THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

समर्पण।

श्रीमान् ला० प्रागदासजी कोटवाले,
रईस, अलीगंज (एटा)

पिताजी!

आपके अनुग्रहसे जो ज्ञान प्राप्त किया है उसके फल-स्वरूप यह भेंट आपके करकमलोंमें सादर सविनय समर्पित है। आपका पुत्र—

कामताप्रसाद।

विषय-सूची

[illegible] पुस्तकालय

१–प्राक्कथन–जैनधर्मका प्राकृत रूप, जैनधर्मकी प्राचीनता, प्राचीन भारतका स्वरूप, तत्कालीन मुख्य राजा, [illegible]

२–शिशुनाग वंश–उत्पत्ति, उपश्रेणिक, श्रेणिक बिम्बसार, अभयकुमार, अजातशत्रु, कुणिक, दर्शक, उदयन, नन्दिवर्धन, महानन्दिन आदि १२

३–लिच्छिवि आदि गणराज–प्राचीन भारतमें प्रजातन्त्र, लिच्छिवि, राजा चेटक, शतानिक, दशरथ, उदयन, चेलनी, वैशाली, ज्येष्ठा, चन्दना, शाक्य, मल्ल, गणराज्य २९

४–ज्ञात्रिक क्षत्री और भ० महावीर–कोल्लाग, वज्जियन, सिद्धार्थराजा, त्रिशला, कुण्डग्राम, भ० महावीरका जीवनकाल, निर्ग्रन्थ जैनी, भवरुद्र, मक्खलिगोशाल, पूर्णकास्यप, आजीवक, गौतमबुद्ध, कौशलदेश, मिथिला, वैशाली, चंपा, धर्मघोष, सुदर्शन सेठ, मगध, पांचाल, कलिंग, वंग, मथुरा, दक्षिण भारत, राजपूताना, गुजरात, पंजाब, काश्मीर आदिमें धर्मप्रचार, ज्ञातृवंश ४५

५–वीर संघ और अन्य राजा–वीर संघके गणधर, गौतम, अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्माचार्य, यमराजा, मण्डिक पुत्र, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलवृत्त, प्रभास, वारिषेण, चंदना आदि ११९

६–तत्कालीन सभ्यता और परिस्थिति–तत्कालीन

राज अवस्था, सामाजिक दशा, महिला महिमा, धार्मिक स्थिति, मुनि व आर्यिकाओंका धर्म, श्रावकाचार आदि १३८
७—भ० महावीरका निर्वाणकाल—वीर संवत, शक-शालिवाहन, नहपान, विक्रम संवत १९७
८—अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामी—बाल्यकाल, वीरता, वैराग्य, विवाह, मुनिजीवन, सर्वज्ञ दशा व धर्मप्रचार, श्वेताम्बर कथन १७४
९—नन्द वंश—नवनन्द, नंदिवर्धन आदि.... .... १८०
१०—सिकन्दर महानका आक्रमण और तत्कालीन जैन साधु—भारतीय तत्ववेत्ता, दि० जैन साधु जिम्नोसोफिस्ट, मुनि मन्दनीस और कलोनस आदि १८६
११—श्रुतकेवली भद्रबाहु और अन्य आचार्य—जैन संघका दक्षिणमें प्रस्थान, श्वेतांबर पट्टावली, जैन संघमें भेद, श्रुतज्ञानकी विक्षिप्ति, श्वे० स्थूलभद्र, आदि २०१
१२—मौर्य साम्राज्य—चन्द्रगुप्त मौर्य, सैल्यूकस, शासन-प्रबंध, सामाजिक दशा, धार्मिक स्थिति, चन्द्रगुप्त जैन थे, चाणक्य, अशोक, कलिंग विजय, अशोककी शिक्षायें, अशोकके जैन धर्मानुसार पारिभाषिक शब्द और उनके दार्शनिक सिद्धांत, अशोकका जैनधर्म प्रचार, शिलालेख व शिल्प कार्य, अंतिम जीवन, अशोकके उत्तराधिकारी, राजा साम्प्रति और जैनसंघ, सेठ सुकुमाल, मौर्य साम्राज्यका अन्त, उपरांतकालके मौर्यवंशज, शुंग वंश २१८

संकेताक्षर सूची।

प्रस्तुत ग्रंथके संकलनमें निम्न ग्रंथोंसे सधन्यवाद सहायता ग्रहण की गई है; जिनका उल्लेख निम्न संकेतरूपमें यथास्थान किया गया है:—

अध०=' अशोकके धर्मलेख '–लेखक श्री० जनार्दन भट्ट एम० ए० (काशी, सं० १९८०)।

अहिइ०=' अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया '–ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए० (चौथी आवृत्ति)।

अशोक०='अशोक'–ले० सर विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए०।

आक०='आराधनाकथाकोष'–ले० ब्र० नेमिदत्त (जैनमित्र ऑफिस, बंबई २४४० वी० स०)।

ऑजी०=' ऑजीविकुस '–भाग १–डॉ० बेनीमाधव बारुआ० डी० लिट् (कलकत्ता १९२०)।

आसू०='आचाराङ्ग सूत्र' मूल (श्वेताम्बर आगमग्रंथ)।

ऑहिइ०='ऑक्सफर्ड हिस्ट्री ऑफ इन्डिया'–विन्सेन्ट स्मिथ एम० ए०।

इऐ०='इंडियन ऐन्टीक्वेरी' (त्रैमासिक पत्रिका)।

इरिई०='इन्सायक्लोपेडिया ऑफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स'–हैस्टिंग्स।

इंसेजै०='इंडियन सेक्ट ऑफ दी जैन्स'–बुल्हर।

इंहिक्वा०='इन्डियन हिसटॉरीकल क्वार्टर्ली'–सं० डॉ० नरेन्द्रनाथ लॉ–कलकत्ता।

उद०='उवासगदसाओ सुत्त'–डॉ० हार्नल (Biblo. Indica)।

उपु० व उ० पु०='उत्तरपुराण'–श्री गुणभद्राचार्य व प० लालारामजी।

उसू०='उत्तराध्ययन सूत्र'–(श्वेताम्बरीय आगमग्रंथ) जार्ल कार्पेन्टियर (उपसला,)

एइ०=एपिग्रेफिया इन्डिका'।

एइमे० या 'मेएइ०'='एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड ऐरियन'-(१८७७)।

एजुजै०=एन इपीटोम ऑफ जैनीज़म'-श्री पूर्णचन्द्र नाहर एम० ए०।

एमिक्षट्रा०='एन्शियेन्ट मिड-इंडियन क्षत्रिय ट्राइब्स'-डॉ० विमलाचरण लॉ (कलकत्ता)।

ऐरि०='ऐशियाटिक रिसर्चेज'-सर विलियम जोन्स (सन् १७९९ व १८०९)।

ऐइ०=एन्शियेन्ट इन्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ स्ट्रैबो, मैकक्रिन्डिल (१९०१)।

कआइ०=कनिंघम, जॉगरफी ऑफ एन्शियेन्ट इंन्डिया'-(कलकत्ता १९२४)।

कलि०='ए हिस्ट्री ऑफ कनारीज़ लिट्रेचर'-ई० पी० राइस (H. I. S.) 1921.

कसू०='कल्पसूत्र' मूल (श्वेताम्बरीय आगम ग्रंथ)।

काले०=कारमाइकल लेक्चर्स-डॉ० डी० आर० भण्डारकर।

कैहिइ०='कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया'-ऐन्शियेन्ट इंडिया, भा० १-रैपसन सा० (१९२२)।

गुसापरि०=गुजराती साहित्य परिषद रिपोर्ट-सातवीं। (भावनगर सं० १९८२)।

गौबु०='गौतम बुद्ध'-के० जे० सॉन्डर्स (H. I. S)।

चंभम०=चंद्रराज भंडारी कृत भगवान महावीर।'

जबिओसो०='जर्नल ऑफ दी विहार एण्ड ओडीसा रिसर्च सोसाइटी।'

जम्बू०=जम्बूकुमारचरित (सूरत वीराब्द २४४०)।

जमीसो०=जर्नल ऑफ दी मीथिक सोसाइटी-बेंगलोर।

जराएसो०='जरनल ऑफ दी रॉयल ऐसियाटिक सौसाइटी'—लन्दन।

जैका०='जैन कानून'—श्री० चम्पतराय जैन विद्यावा० (बिजनौर १९२८)

जैग०='जैनगैजेट'—अंग्रेज़ी (मद्रास)।

जैप्र०='जैनधर्म प्रकाश'—ब्र० शीतलप्रसादजी (बिजनौर १९२७)।

जैस्तू०='जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीकटीज ऑफ मथुरा'—स्मिथ।

जैसा०='जैन साहित्य संशोधक'—मु० जिनविजयजी (पूना)।

जैसिभा०='जैनसिद्धान्त भास्कर'—श्री पद्मराज जैन (कलकत्ता)।

जैशिसं०='जैन शिलालेख संग्रह'—प्रो० हीरालाल जैन (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला)।

जैहि०=जैनहितैषी'—सं० पं०नाथूरामजी व प०जुगलकिशोरजी (बंबई)

जैसू० (Js.)=जैन सूत्राज़ (S. B. E. Series, Vols. XXII & XLV).

टॉरा०=टॉडसा० कृत राजस्थानका इतिहास (वेङ्कटेश्वर प्रेस)।

डिजैबा०=' ए डिक्शनरी ऑफ जैन बायोग्रैफी '—श्री उमरावसिंह टॉक (आरा)।

तक्ष०='ए गाइड टू तक्षशिला'—सर जॉन मारशल (१९१८)।

तत्वार्थ०='तत्वार्थाधिगम सूत्र'—श्री उमास्वाति (S B. J. Vol. I)

तिप०= तिलोयपण्णत्ति'—श्री यतिवृषभाचार्य (जैनहितैषी भा० १३ अंक १२)

दिजै०=' दिगम्बर जैन '—मासिकपत्र—स० श्री मूलचन्द किसनदास कापडिया (सूरत)।

दीनि०=दीघनिकाय' (P T. S.)

परि०='परिशिष्ट पर्व'—श्री हेमचन्द्राचार्य।

प्राजैलेसं०=प्राचीन जैन लेखसंग्रह—कामताप्रसाद जैन (वर्धा)

बविओजैस्मा०=बंगाल, विहार, ओडीसा जैन स्मारक—श्रीमान् ब्र० शीतलप्रसादजी।

बजैस्मा०=बम्बई प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक—ब्र० शीतलप्रसादजी।

बुइ०=बुद्धिष्ट इन्डिया-प्रो० हीस डेविड्स।

भपा०=भगवान पार्श्वनाथ-ले० कामताप्रसाद जैन (सूरत)

भम०=भगवान महावीर- „ „ „ (सूरत)

भमबु०=भगवान महावीर और म० बुद्ध-कामताप्रसाद जैन (सूरत)

भमी०=भट्टारक मीमांसा (गुजराती)-सूरत।

भाइ०=भारतवर्षका इतिहास-डॉ० ईश्वरीप्रसाद डी० लिट् (प्रयाग १९२७)

भाअशो०='अशोक'-डॉ० भाण्डारकर (कलकत्ता)।

भाप्रारा०=भारतके प्राचीन राजवंश-श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ (बंबई)।

भाप्रासइ०=भारतकी प्राचीन सभ्यताका इतिहास-सर रमेशचन्द्र दत्त।

मजैइ०=मराठी जैन इतिहास।

मनि०=
मज्झिम०= } मज्झिम निकाय P. T. S.

ममैप्राजैस्मा०=मद्रास मैसूरके प्राचीन जैन स्मारक-ब्र० शीतलप्रसादजी

महा०=महावग्ग (S. B. E., Vol. XVII)

मिलिन्द०=मिलिन्द पन्ह (S. B E, Vol. XXXV)

मुरा०=मुद्राराक्षस नाटक-इन दी हिन्दू ड्रामेटिक वर्कस, विलसन।

मूला०=मूलाचार-वट्टकेरस्वामी (हिंदी भाषा सहित-बंबई)।

मैअशो०=अशोक-मैकफैल कृत (H. I. S.)

मैबु०=मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म-स्पेन हार्डी।

रश्रा०=रत्नकरण्ड श्रावकाचार-सं० प० जुगलकिशोरजी (बंबई)।

राइ०=राजपूतानेका इतिहास, भाग १-रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा।

रिइ०=रिलीजन्स ऑफ दी इम्पायर-(लन्दन)।

लाऑम०=लाइफ ऑफ महावीर-ला० माणिकचंदजी (इलाहाबाद)।

लाभाइ०=भारतवर्षका इतिहास-ला० लाजपतरायकृत (लाहौर)।

लाम०=लार्ड महावीर एण्ड अदर टीचर्स ऑफ हिज टाइम-कामताप्रसाद (दिल्ली)।

लावबु०=लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ बुद्धघोष-डॉ० बिमलाचरण लॉ (कलकत्ता)।

वृजैश०=वृहद् जैन शब्दार्णव-पं० बिहारीलालजी चैतन्य।

विर०=विद्वद्रत्नमाला-पं० नाथूरामजी प्रेमी (बंबई)।

श्रव०=श्रवणबेलगोला, रा० ब० प्रो० नरसिंहाचार एम०ए० (मद्रास)।

श्रेच०=श्रेणिकचरित्र (सूरत)।

सकौ०=सम्यक्त्व कौमुदी-(बम्बई)।

सजै०=सनातन जैनधर्म-अनु० कामताप्रसाद (कलकत्ता)।

सजैइ०=संक्षिप्त जैन इतिहास-प्रथम भाग-कामताप्रसाद (सूरत)।

सडिजै०=सम डिस्टिन्गुइश्ड जैन्स-उमरावसिंह टाक (आगरा)।

संप्राजैस्मा०=संयुक्त प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक-ब्र० शीतलप्रसादजी।

सुसाइजै०=स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनीज्म-प्रो० रामास्वामी आयंगर।

ससू०=सम्राट् अकबर और सूरीश्वर-मुनि विद्याविजयजी (आगरा)।

सक्षट्राएइ०=सम क्षत्री ट्राइब्स इन एन्शियन्ट इन्डिया-डॉ० विमलाचरण लॉ।

साम्स०=साम्स ऑफ दी ब्रदरेन।

सुनि०=सुत्तनिपात (S. B. E.)।

हरि०=हरिवंशपुराण-श्री जिनसेनाचार्य (कलकत्ता)।

हॉजै०=हॉर्ट ऑफ जैनीज्म-मिसेज स्टीवेन्सन (लंदन)।

हिआइ०
हिआरूइ० } =हिस्ट्री ऑफ दी आर्यन रूल इन इन्डिया-हैवेल।

हिग्ली०=हिस्टॉरीकल ग्लीनिंग्स-डॉ० विमलाचरण लॉ० (कलकत्ता)

हिटे०=हिन्दू टेल्स-जे० जे० मेयर्स।

हिड्रावृ०=हिन्दू ड्रामेटिक वर्क्स-विलसन्।

हिप्रीइफि०=हिस्ट्री ऑफ दी प्री-बुद्धिस्टिक इंडियन फिलॉसफी-बारुआ (कलकत्ता)

हिलिजै०=हिस्ट्री एण्ड लिट्रेचर ऑफ जैनीज्म-बारोदिया (१९०९)।

हिवि०=हिन्दी विश्वकोष-नगेन्द्रनाथ वसु (कलकत्ता)।

क्षत्रीक्लैन्स०=क्षत्रीक्लैन्स इन बुद्धिस्ट इंडिया-डॉ०विमलाचरण लॉ०।

शुद्धयशुद्धिपत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	...	...	पहला खण्ड (६००–१८८ ई० पूर्व)
४	१९	सक्षुद्राए इ०	सक्षुद्राए इ०
५	१७	उपदेशका	उस देशका
६	१४	इस	इन
,,	२२	इत्याद्दि	इत्यादि
११	८	असन्ती	अवन्ती
,,	१६	अस्सके	अस्सक
१८	१९	कारमइकल	कारमाइकिल
,,	,,	१०१८	१९१८
,,	२२	शतान्दिक	शतानीक
,,	२३	प्रसेनजी	प्रसेनजीत
१९	३	घसंबं	वंबघ
२१	१७	मज्झिम० स०	मज्झिम०
२४	१९	७०६	७०२
२५	१४	२११–२१	२१ पृ० २१
,,	१५	पाटील	पाटलि
२६	१३	स्वप्नवासदत्ता	स्वप्नवासवदत्ता
,,	२३	३–अहिइ०	३–ऑहिइ०
३१	२१	रखनेवाली थी	रखनेवाले थे ।
३२	२०	थी ।	थी ।[२]
३३	११	संस्या	संख्या
,,	२०	मम०	मम०
३४	५	परिधिमेंमें फैला बतलाया	परिधिमें फैला बतलाता
,,	१८	कोल्लाग	कोल्लाग
४०	८	द्वादशाङ्क	द्वादशाङ्ग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४	१३	रायगॉम	रामगाम
४५	१५	महापुरुष	यह महापुरुष
"	२२	सक्षद्राए इ०	सक्षट्राएइ०
"	२३	उ० ६०	उद०
४९	१५	कोलिग्राम	कोटिग्राम
५०	६	स्वर्ण	स्वर्ण
५१	१६	'ऐन्द्र'	भगवानने 'ऐन्द्र
५२	१०	दशाख	दशा सूत्र
"	२०	सक्ष्यद्राए	सक्षट्राएइ०
५३	४	आईत	आर्हत
"	२२	निगडो	निगंठो
५६	१६	महादीर	महावीर
५७	५	थी।	थी।[१]
"	७	नग्न हुये थे।	नग्न नहीं हुये थे।
"	१२	मतिज्ञानने	मतिज्ञानके
६०	२३	Js. T. P. 193	Js. I. P. 193
६३	१८	महावीर	महावीर और
"	२२	११८	१८
६७	४	बतलाई	जो बतलाई
६८	२३	१३५	पृ० ३५
७०	१५	Antri.	Anti.
"	१७	Tirthakar	Tirthakas
"	२६	roformer	roformer
७२	३	है।	है।[१]
७३	३	श्रावणी	श्रावस्ती
"	२२	६-७ से।	देखो।
७४	२१	Appendiss	उद० Appendix

अटल नियमसे अपने नैसर्गिक स्वभाव—सदा विजयी रहनेकी भावनासे वंचित नहीं है। अतएव विजयी होनेका धर्म प्राकृत—अनादिनिधन और पूर्ण सत्य है।

किन्तु प्रश्न यह है कि मनुष्यको किस प्रकार विजय पाना है? क्या जिस वस्तुको वह अपने आधीन करना चाहे, उसके लिये युद्ध ठान दे? नहीं, मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्यमें कुछ विशेषता है। उसके पास विवेकबुद्धि है: जिससे वह सत्यासत्यका निर्णय कर सक्ता है। यह विशेषता अन्य जीवोंको नसीब नहीं है। इस विवेकबुद्धिके अनुसार उसे विजय-मार्गमें अग्रसर होना समुचित है। और विवेक बतलाता है कि जो अन्याय है, दुर्गुण है, बुरी वासना है, उसको परास्त करनेके लिये कर्मक्षेत्रमें आना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। ठीक, यही बात जैनधर्म सिखाता है। वह विजयीवीरोंका धर्म है। उसके चौबीस तीर्थंकर वीरशिरोमणि क्षत्रीकुलके रत्न थे। उनने परमोत्कृष्ट ज्ञानको पाकर विजय-मार्ग निर्दिष्ट किया था—मनुष्योंको बतला दिया था कि अनादिकालसे जीव अजीवके फंदेमें पड़ा हुआ है। प्रकृतिने चेतन पदार्थको अपने आधीन बना लिया है। इस प्रकृतिको यदि परास्त कर दिया जाय तो पूर्ण विजयका परमानन्द प्राप्त हो। उसके लिये किसीका आश्रय लेना और पराया मुंह ताकना वृथा है। मनुष्य अपने पैरों खड़ा होवे और बुरी वासनाओं एवं कषायोंको तबाह करके विजयी वीर बन जावे! फिर वह स्वाधीन है। उसके लिये आनन्द ही आनन्द है। यह प्राकृत शिक्षा जैनधर्मकी अभेद्य प्राचीनताका पार न मिलनेका पर्याप्त उत्तर है।

जैनधर्मकी प्राचीनता और २४ तीर्थंकर।

'संक्षिप्त जैन इतिहास' के प्रथमभागमें जैनधर्मके सैद्धान्तिक उल्लेखों एवं अन्य श्रोतोंसे उसकी अज्ञात बहु प्राचीनताका दिग्दर्शन कराया जाचुका है। अतः उनका यहांपर दुहराना वृथा है।[1] जैनधर्म जिस समय कर्मभूमिके इस कालके प्रारंभमें पुनः श्री ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित हुआ था, उस समय सभ्यताका अरुणोदय होरहा था। यह ऋषभदेव इक्ष्वाकुवंशी क्षत्री राजकुमार थे और हिन्दू पुराणोंके अनुसार वे स्वयंभू मनुसे पांचवीं पीढीमें हुये बतलाये गये हैं।[2] इन्हें हिन्दू एवं बौद्ध शास्त्रकार भी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और इस युगके प्रारम्भमें जैनधर्मका प्ररूपण करनेवाला लिखते हैं।[3] हिन्दू अवतारोंमें वह आठवें माने गये हैं और संभवतः वेदोंमें भी उन्हींका उल्लेख मिलता है। चौदहवें वामन अवतारका उल्लेख निस्सन्देह वेदोंमें है। अतः वामन अवतारसे पहले हुये आठवें अवतार ऋषभदेवका उल्लेख इन अजैन वेदोंमें होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है[4]। कुछ भी हो उनका इन वेदोंसे प्राचीन होना सिद्ध है। इन ऋषभदेवकी मूर्तियां आजसे ढाईहजार वर्ष पहले भी सम्मान और पूज्य दृष्टिसे इस भारतमहीपर मान्यता पाती थी।[5] इन्हीं ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र सम्राट् भरतके नामसे यह देश भारतवर्ष कहलाता है।

ऋषभदेवके उपरान्त दीर्घकालके अन्तरसे क्रमवार तेईस तीर्थंकर भगवान और हुये थे। उन्होंने परिवर्तित द्रव्य, क्षेत्र, काल,

१–संक्षिप्त जैन इतिहास प्रथम भागकी प्रस्तावना पृष्ठ २६–३०। २–भागवत ५।४, ५, ६। ३–न्यायबिन्दु अ० ३ व सतशास्त्र–'वीर' वर्ष ४ पृ० ३५३। ४–हमारा, भगवान महावीर पृ० ३८। ५–जबिओसो० सा० ३ पृ० ४४७।

भावके अनुसार पुनः वही सत्य, वही निरापद विजयमार्ग तात्का-लीन जनताको दर्शाया था। इन तीर्थंकरोंमेंसे बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथजीके तीर्थकालमें श्री रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी हुये थे। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथजीके समकालीन श्री कृष्णजी थे; जिनके साथ श्री नेमिनाथजीकी ऐतिहासिकताको विद्वान् स्वीकार करने लगे हैं;[1] क्योंकि भगवान पार्श्वनाथजीसे पहले हुये तीर्थङ्करोंके अस्तित्वको प्रमाणित करनेके लिये स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु तो भी जैन पुराणोंके कथनसे एवं आजसे करीब ढाई तीन हजार वर्ष पहले बने हुये पाषाण अवशेषों[2] अथच शिलालेखों[3] व बौद्धग्रन्थोंके उल्लेखोंमे शेष जैन तीर्थङ्करोंकी प्राचीन मान्यता और फलतः उनके अस्तित्वका पता चलता है। तेईसवें तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथजीको अब हरकोई एक ऐतिहासिक महापुरुष मानता है[4] और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरजीके जीवन-कालसे जैनधर्मका एक प्रामाणिक इतिहास हमें मिल जाता है।

जैन इतिहास।

यह मानी हुई बात है कि धर्मात्मा विना धर्मका अस्तित्व नहीं रह सक्ता है। अतएव किसी धर्मका इति-हास उसके माननेवालोंका पूर्व-परिचय मात्र कहा जा सक्ता है। जैनधर्मके प्रतिपालक लोग जैन कहलाते हैं;

१–इपीग्रेफिया इन्डिका भा० १ पृ० ३८९ व सक्षद्भूए इ० भूमिका पृ० ४। २–मथुरा कंकाली टीलेका प्राचीन जैन स्तूप आदि। ३–हाथी-गुफाका शिलालेख–जबिओसो० भा० ३ पृ० ४२६–४९०। ४–भ० महावीर और म० बुद्ध पृ० ५१ व ला० म० पृ० ३०। ५–हमारा ‘भगवान पार्श्वनाथ’ की भूमिका।

जिनमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र आदि सब हीका समावेश हुआ समझिये अर्थात जैन होते हुये भी प्रत्येक व्यक्तिकी जाति ज्योंकी त्यों रहती है, इसमें संशय नहीं है; यद्यपि किसी अजैनके जैनधर्ममें दीक्षित होते समय उसकी आजीविका-वृत्ति और रहनसहनके अनुसार उसको उपयुक्त जातिमें सम्मिलित किया जासकता है।[1]

अतः जैनधर्म विषयक इस संक्षिप्त इतिहासमें जैन महापुरुषोंका और जैनधर्म सम्बन्धी विशेष घटनाओंका परिचय एवं उसका प्रभाव भिन्न२ कालोंमें उस समयकी परिस्थितिपर कैसा पड़ा था, यह बतलाना इष्ट है। इसके प्रथम भागमें भगवान पार्श्वनाथभी तकका सामान्य परिचय प्रकट किया जाचुका है। इस भागमें भगवान महावीरजीके समयसे उपरान्त मध्यकालतकके जैन इतिहासको संक्षेपमें प्रकट किया जाता है। प्रथम भागमें जैन भूगोलमें भारतवर्षका स्थान और उसका प्राकृतरूप आदिका परिचय कराया जाचुका है।

भारतकी प्राकृत दशाका प्रभाव।

सचमुच किसी देशकी प्राकृतिक स्थितिका प्रभाव अपनी खास विशेषता रखता है। उस देशका इतिहास ही उस प्रभावके ढंगपर ढल जाता है। भारतके विषयमें कहा गया है कि उसकी प्राकृतिक स्थितिका सामाजिक संस्थाओं और मनुष्योंकी रहनसहन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। धीरे२ बड़ी बड़ी नदियोंके किनारे सुरम्य नगर बस गये जो कालान्तरमें व्यापारके प्रसिद्ध केन्द्र होगये। भूमिके उर्वरा होनेसे देशमें धन-

१–आदिपुराण पर्व ३९।

मान्यकी सदैव प्रचुरता रही।* इससे सभ्यताके विकासमें बड़ी सहायता मिली। जब मनुष्यका चित्त शान्त रहता है और जब किसी प्रकार उनका मन डांवाडोल नहीं होता तभी ललितकला, विज्ञान और उच्च कोटिके साहित्यका प्रादुर्भाव होता है। प्राचीन भारतवासियोंके जीवनको सुखमय बनानेवाले पदार्थ सुलभ थे।+ इसीलिए उसकी सभ्यता सदैव अग्रगण्य रही। चारों ओरसे सुरक्षित होनेके कारण भारतका अन्य देशोंसे विशेष सम्पर्क नहीं हुआ; फलतः यहां सामाजिक संस्थाएँ ऐसी दृढ़ होगई कि उनके बन्धनोंका ढीला करना अब भी कठिन प्रतीत होता है। यहांके मूल निवासियोंपर बाहरी आक्रमणकारियोंका कभी अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। जो अन्य देशोंसे भी आये वे यहांकी जनतामें मिल गये और उन्होंने तत्कालीन प्रचलित धर्म और रीतिरिवाजोंको अपना

---

* सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें भारतमें आए हुए यूनानी लेखकोंके निम्न वाक्य इन खुबियोंको अच्छी तरह प्रकट कर देते हैं। मेगस्थनीज लिखता है:-"भारतमें बहुतसे बड़े पर्वत हैं, जिनपर हर प्रकारके फल-फूल देनेवाले वृक्ष बहुतायतसे हैं और कई लम्बे चौड़े उपजाऊ मैदान हैं; जिनमें नदिया बहती हैं। पृथिवीका बहुभाग जलसे सींचा हुआ मिलता है: जिससे फसल भी खूब होती है।...भारतवासियोंके जीवनको सुखमय बनानेवाली सामग्री सुलभ है, इस कारण उनका शरीर गठन भी उत्कृष्ट है और वह अपनी सम्मानयुक्त शिक्षा-दीक्षाके कारण सबमें अलग नजर पड़ते हैं। ललित कलाओंमें भी वे विशेष पटु हैं। फलोंके अतिरिक्त भूगर्भसे उन्हें सोना, चादी, ताम्बा, लोहा, इत्यादि धातुएँ भी बाहुल्यतासे प्राप्त हैं। इसीलिये कहते हैं कि भारतमें कभी अकाल नहीं पड़ा और न यहां खाद्य पदार्थकी कठिनाई कभी अगाड़ी आई।"

—मैक्रिन्डल, ऐन्शियेन्ट इन्डिया, पृ० ३०-३२.

लिया । अपने देशमें सब प्रकारकी सुविधा होनेके कारण भारतवासियोंने सांसारिक विषयोंको छोड़कर परमार्थकी ओर अधिक ध्यान दिया । यही कारण है कि प्राचीन कालमें आध्यात्मिक उन्नति अधिक हुई और हिन्दु समाजमें अद्भुत तत्वज्ञानी हुए ।+

इस स्थितिसे कतिपय विद्वान् भारतकी कुछ हानि हुई खयाल करते हैं । उनका अनुमान है कि देशकी प्रचुर सम्पत्तिसे आकर्षित होकर अनेकवार विदेशियोंके भारतपर आक्रमण हुए और उसमें उनने खूब अंधाधुंधी मचाई । उपरोक्त स्थितिके कारण भारतवासी उनका मुकाबिला करनेके लिये पर्याप्त बलवान न रहे; किन्तु उनके इस कथनमें, ऐतिहासिक दृष्टिसे, बहुत ही कम तथ्य है । तत्त्वज्ञानकी अद्भुत उन्नति भगवान महावीर और म० बुद्धके समयमें खूब हुई थी । उससमय देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक आध्यात्मिक भावोंकी लहर दौड़ रही थी; किन्तु उससे लोगोंमें भीरुताका समावेश नहीं हुआ था । वह जीवके अमरपनेमें दृढ़ विश्वास रखते थे और यही कारण था कि अन्तिम नन्दराजाके समयमें हुए सिकंदर महान्के आक्रमणका भारतीयोंने बड़ी वीरताके साथ मुकाबला किया था । यहांतक कि भारतीय सेनाकी दृढ़ता और तत्परता देखकर युनानी सेनाके आसन पहलेसे भी और ढीले होगये थे ।

फलतः सिकन्दर अपने निश्चयको सफल नहीं बना सका था । इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्यने उस ही आध्यात्मिक स्थितिके मध्य जिस सत्साहसका परिचय दिया था, वह विद्वानोंके उपरोक्त कथनको सर्वथा निर्मूल कर देता है । सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यने यूनानि-

+ भारतवर्षका इतिहास पृ० १०.

योंको भारतवर्षकी सीमाओंसे बाहर निकाल दिया था और यूनानियोंसे अफगानिस्तान वर्ती एरियाना प्रदेश भी लेलिया था। यूनानी राजा सेल्यूकसने विनम्र हो अपनी कन्या भी चन्द्रगुप्तको भेंटकर दी थी। इस प्रकार जबतक तत्त्वज्ञानकी लहर विवेक भावसे भारत-वसुंधरा पर बहती रही, तबतक इस देशकी कुछ भी हानि नहीं हुई, किन्तु ज्योंही तत्त्वज्ञानका स्थान साम्प्रदायिक मोह और विद्वेषको मिलगया, त्योंही इस देशका सर्वनाश होना प्रारंभ होगया। हूण अथवा शकलोगोंके आक्रमण, जो उपरान्त भारतपर हुये; उनमें उन विदेशियोंको सफलता परस्परमें फैले हुये इस साम्प्रदायिक विद्वेषके कारण ही मिली। और फिर पिछले जमानेमें मुसलमान, आक्रमणकारी राजपूतोंपर पारस्परिक एकता और संगठनके अभावमें विजयी हुये। वरन् कोई नहीं कह सक्ता है कि राजपूतोंमें वीरता नहीं थी। अतएव आध्यात्मिक तत्त्वके बहुप्रचार होनेसे इस देशकी हानि हुई ख्याल करना निरीह भूल है।

प्राचीन भारतका स्वरूप।

आजसे करीब ढाईहजार वर्ष पहिले भी भारतकी आकृति और विस्तार प्रायः आजकलके समान था। सौभाग्यसे उससमय सिकन्दर महान्‌के साथ आये हुये यूनानी लेखकोंकी साक्षीसे उस समयके भारतका आकार-विस्तार विदित होजाता है। मेगास्थनीज कहता है कि उस समयका भारत समचतुराकार (Quadrilateral) था। पूर्वीय और दक्षिणीय सीमायें समुद्रसे वेष्टित थीं; किन्तु उत्तरीयभाग हिमालय पर्वत (Mount Hemodos) द्वारा शाक्यदेश (Skythia) से प्रथक कर दिया गया था। पश्चिममें भारतकी सीमाको सिंधुनदी

प्रकट करती थी, जो उस समय संसारभरमें नीलनदीके अतिरिक्त सबसे बड़ी मानी जाती थी।

सारे देशका विस्तार अर्थात् पूर्वसे पश्चिमतक ११४९ मील और उत्तरसे दक्षिणतक १८३८ मील था। यह वर्णन भारतकी वर्तमान आकृतिसे प्रायः ठीक बैठता है। जिस प्रकार भारत आज एक महाद्वीप है, उसी प्रकार तब था। आज 'इस देशकी उत्तरी स्थलसीमा १६०० मील, पूर्वपश्चिमकी सीमा लगभग १२०० और पूर्वोत्तर सीमा लगभग ५०० मील है। समुद्रतटका विस्तार लगभग ३५०० मील है।' कुल क्षेत्रफल १८,०२,६५७ वर्गमील है। हां, एक बात उस समय अवश्य विशेष थी और वह यह थी कि चन्द्रगुप्त मौर्यने यूनानी राजा सेल्यूकसको परास्त करके अफगानिस्तान, कांधार आदि पश्चिम सीमावर्ती देश भी भारतमें सम्मिलित कर लिये थे।

भारतकी एकता।

भारतके विविध प्रान्तोंमें परस्पर एक दूसरेसे विभिन्नता पाई जाती है और यहांके निवासी मनुष्य भी सब एक नसलके नहीं हैं। मेगस्थनीज भी बतलाता है कि भारतकी बृहत् आकृतिको एक ही देश लेते हुये, उसमें अनेक और भिन्न जातियोंके मनुष्य रहते मिलते हैं; किन्तु उनमेंसे एक भी किसी विदेशी नसलके वंशज नहीं थे।[२] उनके आचार-विचार प्रायः एक दूसरेसे बहुत मिलते जुलते थे। इसी कारण यूनानी भी सारे देशको एक ही मानते थे और सिकन्दर महान्की अभिलाषा भी समग्र देशपर अपना सिक्का जमानेकी थी। भारतीय

१-मैए इ० पृ० ३०। २-पूर्व पृ० ३५।

राजा-महाराजा भी सारे देशपर अपना आधिपत्य फैलाना आवश्यक समझते थे। साराशतः प्राचीनकालसे ही भौगोलिक दृष्टिसे सारा देश एक ही समझा जाता रहा है। अब भी यह बात ज्योंकी त्यों है। भारत एक देश है और उसकी मौलिक एकताका भाव यहांके निवासियोंमें सदा रहा है। किन्तु इस मौलिक एकताके होते हुये भी, जिस प्रकार वर्तमानमें भारत अनेक प्रान्तोंमें विभक्त है, उसी प्रकार भगवान महावीरजीके समयमें भी बंटा हुआ था। इस समय और उस समयके भारतकी राजनैतिक परिस्थितिमें बड़ा भारी अंतर यह था कि आज समूचा भारत एक साम्राज्यके अन्तर्गत शासित है, किन्तु उस समय यह देश भिन्न२ राजाओंके आधीन अथवा प्रजातंत्र संघोंकी छत्रछायामें था। हां, अशोक मौर्यके समय अवश्य ही प्रायः सारा भारत उसके आधीन होगया था।

तत्कालीन मुख्य राज्य।

म० गौतमबुद्धके जन्मके पहिलेसे भारत सोलह राज्योंमें विभक्त था; किन्तु जैनशास्त्र बतलाते हैं कि इन सोलह राज्योंके अस्तित्वमें आनेके जरा ही पहिले सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्तके समयमें भारत साम्राज्य एक था और उसकी राज्य-व्यवस्था सम्राट् ब्रह्मदत्तके आधीन थी। सम्राट् ब्रह्मदत्तका घोर पतन उसके अत्याचारोंके कारण हुआ और उसकी मृत्युके साथ ही भारत साम्राज्य तितर-बितर होकर निम्न-लिखित सोलह राज्योंमें बंटगया:—

(१) अङ्ग—राजधानी चम्पा; (२) मगध—राजधानी राजगृह; (३) काशी—रा० धा० बनारस; (४) कौशल (आधुनिक नेपाल)—रा० श्रावस्ती; (५) वज्जियन—रा० वैशाली; (६) मल्ल—रा० पावा

हुआ था; किन्तु उसका अन्त परस्परमें सन्धि होकर होगया था।[1] कहते हैं कि इसी सन्धिके उपरान्त श्रेणिकका विवाह कुमारी चेलनीके साथ हुआ था। सम्राट् श्रेणिक बिम्बसारने अपने बढ़ते हुए राज्यबलको देखकर ही शायद एक नई राजधानी—नवीन राजगृहकी नींव डाली थी।[2] उनने अपने पड़ोसके दो महाशक्तिशाली राज्यों-कौशल और वैशालीसे सम्बन्ध स्थापित करके अपनी राजनीति कुशलताका परिचय दिया था—इन सम्बन्धोंसे उनकी शक्ति और प्रतिष्ठा अधिक बढ़ गई थी।[3]

आधुनिक विद्वानोंका मत है कि सम्राट् बिम्बसारने सन् ई० से पूर्व ५८२ से ५५४ वर्ष तक कुल २८ वर्ष राज्य किया था। किन्तु बौद्ध ग्रन्थोंमें उन्हें पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें सिंहासनारूढ़ होकर ५२ वर्ष तक राज्य करते लिखा है। (दीपवंश ३–५६–६०) वह म० बुद्धसे पांच वर्ष छोटे थे।* फारस (Persia) का बादशाह दारा (Darius) इन्हींका समकालीन था और उसने सिंधुनदीवर्ती प्रदेशको अपने राज्यमें मिला लिया था। किन्तु दाराके उपरांत चौथी शताब्दि ई० पू०के आरम्भमें जब फारसका साम्राज्य दुर्बल होगया, तब यह सब पुनः स्वाधीन होगये थे। इतनेपर भी इस विजयका प्रभाव भारतपर स्थायी रहा। यहां एक नई लिपि

१—कारमाइकैल लेक्चर्स, १९१८, पृ० ७४। २—अहिइ०, पृ० ३१। ३-अध०, पृ० ८। ४—ऑहिइ०, पृ० ४५।

*, मि० काशीप्रसाद जायसवालने श्रेणिकका राज्य काल ५१ वर्ष (६०१–५५२ ई० पूर्व) लिखा है। कौशाम्बीके परन्तप शतानिक व श्रावस्तीके प्रसेनजीतसमकालीन राजा थे। जीव ओसो भा० १ पृ० ११४।

जिसे खरोष्ठी लिपि कहते हैं, प्रचलित होगई और यहांके शिल्प पर भी फारसकी कलाका प्रभाव पड़ा था।

सम्राट् श्रेणिकके राज्य प्रबंधमें जैनोंका कहना है कि 'उनके राज्य करते समय न तो राज्यमें किसी प्रकारकी अनीति थी और न किसी प्रकारका भय ही था, किन्तु प्रजा अच्छी तरह सुखानुभव करती थी।'[1]

श्रेणिक विम्बसार जैन थे और उनका धार्मिक जीवन।

जैनधर्मके इतिहासमें श्रेणिक बिम्बसारको प्रमुखस्थान प्राप्त है। भगवान महावीरके समोशरण (सभागृह) में वह मुख्य श्रोता थे। जैनोंकी मान्यता है कि यदि श्रेणिक महाराज भगवान महावीरजीसे साठ हजार प्रश्न नहीं करते, तो आज जैनधर्मका नाम भी सुनाई नहीं पड़ता! किंतु अभाग्यवश इन इतने प्रश्नोंमेंसे आज हमें अति अल्प संख्यक प्रश्नोंका उत्तर मिलता है। प्रायः जितने भी पुराण ग्रन्थ मिलते हैं, वह सब भगवान महावीरके समोशरणमें श्रेणिक महाराज द्वारा किये गये प्रश्नके उत्तरमें प्रतिपादित हुये मिलते हैं। जैनाचार्योंकी इस परिपाटीसे महाराज श्रेणिककी जैनधर्ममें जो प्रधानता है, वह स्पष्ट होजाती है। श्रेणिक महाराजको बौद्ध अपने धर्मका अनुयायी बतलाते हैं; किंतु बौद्धोंका यह दावा उनके प्रारम्भिक जीवनके सम्बन्धमें ठीक है। अवशेष जीवनमें वह पक्के जैनधर्मानुयायी थे।[2] यही कारण है कि बौद्ध ग्रंथोंमें उनके अंतिम जीवनके विषयमें घृणित और कटुक वर्णन मिलता है, जैसे कि हम अगाड़ी देखेंगे।

जब श्रेणिक महाराजको जैनधर्ममें दृढ़ श्रद्धान होगया था,

१-माइ० पृ० ५४। २-भ० म०, पृ० १३८-१४८।

जैन राजा था। उसके राज्यमें जैनधर्मका खूब विस्तार हुआ था।[1x]

कुणिककी एक मूर्ति भी मिली है और विद्वानोंका अनुमान है कि उसकी एक बांह टूटी थी। यही कारण है कि वह 'कुणिक' कहलाता था (जविओसो० भा० १ पृष्ठ ८४) कुणिकके राज्य-कालमें सबसे मुख्य घटना भगवान महावीरजीके निर्वाण लाभकी घटित हुई थी। इसी समय अर्थात् ५४५ ई० पूर्वमें अवन्तीमें पालक नामक राजा सिंहासनपर आसीन हुआ था। म० बुद्धका स्वर्गवास भी लगभग इसी समय हुआ था। (जविओसो० भाग १ पृष्ठ ११९)

दर्शक और उदयन्। कुणिक अजातशत्रुके पश्चात् मगधके राज्य सिंहासनपर उसका पुत्र दर्शक अथवा लोकपाल अधिकारी हुआ था;[2] किन्तु इसके विषयमें बहुत कम परिचय मिलता है। 'स्वप्नवासवदत्ता' नामक नाटकसे यह वत्सराज उदयन् और उज्जैनीपति प्रद्योतन्‌के समकालीन प्रगट होते हैं। प्रद्योतन्‌ने इनकी कन्याका पाणिग्रहण अपने पुत्रसे करना चाहा था[3]। दर्शकके बाद ई० पू० सन् ५०३में अजातशत्रुका पोता उदय अथवा उदयन् मगधका राजा हुआ था। उसके विषयमें कहा जाता है कि उसने पाटलिपुत्र अथवा कुसुमपुर नामक नगर बसाया था। इस नगरमें उसने एक सुंदर जैनमंदिर भी बनवाया था; क्योंकि उदयन् भी अपने पितामहकी भांति जैनधर्मानुयायी था[4]। कहते हैं कि जैनधर्मके

१x-कैहिइ० पृ० १६१ अजातशत्रुने अपने शीलवत नामक भाईको भी बौद्धधर्मविमुख बनानेके प्रयत्न किये थे। (साम्ब० २६९)
२-अहिइ०, पृ० ३९। ३-अहिइ० पृ० ४८। ४-हिलि जै० पृ० ४२।

कारण ही उसका नामकरण 'विशाला' हुआ था। चीनी यात्री ह्युन्त्सांग वैशालीको २० मीलकी लम्बाई-चौड़ाईमें बसा बतला गया था। उसने उसके तीन कोटों और भागोंका भी उल्लेख किया है। वह सारे वृज्जि देशको ५००० ली (करीब १६०० मील) की परिधिमें फैला बतलाता है और कहता है कि यह देश बड़ा सरसब्ज था। आम, केले आदि मेवोंके वृक्षोंसे भरपूर था। मनुष्य ईमानदार, शुभ कार्योंके प्रेमी, विद्याके पारखी और विश्वासमें कभी कट्टर और कभी उदार थे।[1] वर्तमानके मुजफ्फरपुर जिलेका बसाढ़ ग्राम ही प्राचीन वैशाली है।

उपरान्तके जैनग्रन्थोंमें विशाला अथवा वैशालीको सिंधु देशमें

जिससे भगवानका वैशालीके नागरिक होना प्रकट है। अभयदेवने भगवतीसूत्रकी टीकामें 'विशाला' को महावीर जननी लिखा है। दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें यद्यपि ऐसा कोई प्रकट उल्लेख नहीं है, जिससे भगवानका सम्बन्ध वैशालीसे प्रकट होसके, परंतु उनमें जिन स्थानोंके जैसे कुण्डग्राम, कुम्ग्राम, वनषण्ड आदिके नाम आए हैं, वे सब वैशालीके निकट ही मिलते हैं। वनषण्ड श्वेताम्बरोंका 'दुइपलाश उज्जान' अथवा 'नायषण्डवन उज्जान' या नायषण्ड' है। कुम्ग्रामसे भाव अपने कुण्डके ग्रामके होसके हैं अथवा कोल्लागके होंगे, जिसमें नाथवंशी क्षत्री अधिक थे और जिसके पास ही वनषण्ड उद्यान था, जहां भगवान महावीरने दीक्षा ग्रहण की थी। अत. दिगम्बर सम्प्रदायके उल्लेखोंसे भगवानका जन्मस्थान कुण्डग्राम वैशालीके निकट प्रमाणित होता है और चूंकि राजा सिद्धार्थ (भगवान महावीरके पिता) वैशालीके राजप्रबंधमें शामिल थे, जैसे कि हम प्रगट करेंगे, तब वैशालीको उनका जन्मस्थान कहना अत्युक्ति नहीं रखता। कुण्डग्राम वैशालीका एक भाग अथवा सन्निवेश ही था।

१—क्षत्री क्लैन्स० पृ० ४२ व ५४.

उपरान्तमें लिच्छिवि वंश।

राजा चेटकका यह पारवारिक परिचय बड़े महत्वका है। इससे प्रगट होता है कि उससमयके प्रायः मुख्य राज्योंसे उनका सम्पर्क विशेष था। जैनधर्मका विस्तार भी उससमय खूब होरहा था। लिच्छिवि प्रजातंत्र राज्य भी उनकी प्रमुखतामें खूब उन्नति कर रहा था। किन्तु उनकी यह उन्नति मगध नरेश अजातशत्रुको असह्य हुई थी और उसने इनपर आक्रमण किया था, यह लिखा जाचुका है। किन्हीं विद्वानोंका कहना है कि अभयकुमार, जिसका सम्बन्ध लिच्छिवियोंसे था, उससे डरकर अजातशत्रुने वैशालीसे युद्ध छेड़ दिया था;[1] किंतु जैन शास्त्रोंके अनुसार यह संभव नहीं है; क्योंकि अभयकुमारके मुनिदीक्षा ले लेनेके पश्चात् अजातशत्रुको मगधका राजसिंहासन मिला था। अतः अभयकुमारसे उसे डरनेके लिये कोई कारण शेष नहीं था।

यह संभव है कि अजातशत्रुके बौद्धधर्मकी ओर आकर्षित होकर अपने पिता श्रेणिक महाराजको कष्ट देनेके कारण, लिच्छिवियोंने कुछ रुष्टता धारण की हो और उसीसे चौकन्ना होकर अजातशत्रुने उनको अपने आधीन कर लेना उचित समझा हो। कुछ भी हो, इस युद्धके साथ ही लिच्छिवियोंकी स्वाधीनता जाती रही थी और वे मगध साम्राज्यके आधीन रहे थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें भी वह प्रजातंत्रात्मक रूपमें राज्य कर रहे थे; जिसका अनुकरण करनेकी सलाह कौटिल्यने दी थी। किन्तु जो स्वतंत्रता उनको चन्द्रगुप्तके राज्यमें प्राप्त थी, वह अशोकके समय

१-क्षत्री क्लैन्स०, पृ० १३१।

नहीं रही और उनने अशोककी आधीनता स्वीकार कर ली थी। गुप्तकाल तक इनके अस्तित्वका पता चलता है।

शाक्य और मल्ल क्षत्रियोंके गणराज्य।

वज्जियन प्रजातंत्रके उपरान्त दूसरा स्थान शाक्यवंशी क्षत्रियोंके प्रजातंत्रको प्राप्त था। उनकी राजधानी कपिलवस्तु थी, जो वर्तमानके गोरखपुर जिलेमें स्थित है। नृप शुद्धोदन उस समय इस राज्यके प्रमुख थे। म० गौतमबुद्धका जन्म इन्हींके गृहमें हुआ था। शाक्योंकी भी सत्ता उस समय अच्छी थी; किन्तु उपरान्त कुणिक अजातशत्रुके समयमें विरुद्धाम द्वारा उनका सर्व नाश हुआ था[2]। शाक्योंके बाद मल्ल गणराज्य प्रसिद्ध था, जिसमें मल्लवंशी क्षत्रियोंकी प्रधानता थी। बौद्ध ग्रन्थोंसे यह राज्य दो भागोंमें विभक्त प्रगट होता है। कुसीनारा जिस भागकी राजधानी थी, उससे म० बुद्धका संबंध विशेष रहा था। दूसरे भागकी राजधानी पावा थी। उस-समय राजा हस्तिपाल इस राज्यके प्रमुख थे। भगवान महावीर जिस समय यहां पहुंचे थे, तब इस राजाने उनकी खूब विनय और भक्ति की थी। भगवानने निर्वाण-लाभ भी यहींसे किया था। उस समय अन्य राजाओंके साथ यहांके नौ राजाओंने दीपोत्सव मनाया था। जैनधर्मकी मान्यता इन लोगोंमें विशेष रही थी।[3] शाक्य प्रजातंत्र भी जैनधर्मके संसर्गसे अछूता नहीं बचा था। ऐसा मालूम होता है कि राजा शुद्धोदनकी श्रद्धा प्राचीन जैनधर्ममें थी।[4] लिच्छिवियोंकी तरह मल्लोंको भी अजातशत्रुने अपने आधीन कर लिया था।

१-पूर्व, पृ० १३६। २-अहि इ० पृ० ३७-३८। ३-क्षत्रीक्लैन्स०, पृ० १६३ व १७५। ४-ममबु० पृ० ३७।

विदेह देशवासी क्षत्रियोंका गणराज्य भी उस समय उल्लेखनीय था। यह लिच्छिवियोंके साथ वृजि प्रजातंत्र-राज्यसंघमें सम्मिलित थे, यह लिखा जाचुका है। दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें भगवान महावीरकी जन्मनगरीको विदेह देशमें स्थित बतलाया है।[1] और श्वेताम्बरी शास्त्र महावीरजीको विदेहका निवासी अथवा विदेहके राजकुमार लिखते हैं।[2] इन उल्लेखोंसे भी विदेह गणराज्यका वृजि-राज-संघमें सम्मिलित होना सिद्ध है। यदि विदेहका सम्पर्क इस राजसंघसे न होता तो वैशालीके निकट स्थित कुण्डग्रामको विदेह देशमें न लिखा जाता। अस्तु, विदेहमें जैनधर्मकी गति विशेष थी। भगवान महावीरने तीस वर्ष इसी देशमें बिताये थे। विदेहकी राजधानी मिथिला वैशालीसे उत्तर पश्चिमकी ओर ३५ मील थी और वह व्यापारके लिये बहु प्रख्यात थी।[3]

इनके अतिरिक्त रायगामका कोलियगणराज्य, सुन्सुमार पर्वतका भग्ग राजसंघ, अल्लकप्पका बुलि प्रजातंत्रराज्य, पिप्पलिवनका मोरीय-गणराज्य आदि अन्य कई छोटे मोटे प्रजातंत्रात्मक राज्य थे; जिनका कुछ विशेष-हाल मालूम नहीं होता है।

१-उ० पु०, पृ० ६०५। २-Js. I, 256. ३-क्षत्री क्लैन्स, पृ० १४६।

ज्ञात्रिक क्षत्री और भगवान महावीर।

ई० पूर्व० ६२० ई० पूर्व ५४५।

लिच्छिवियोंके साथ वज्जि प्रदेशके प्रजातंत्रात्मक राजसंघमें ज्ञात्रिक वंशी क्षत्री भी सम्मिलित थे। इन क्षत्रियोंको 'नाय' अथवा 'नाथ' वंशी भी कहते हैं।[1] दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें इनका 'हरिवंशी' रूपमें भी उल्लेख हुआ है।[2] मनुने मल्ल, भल्ल, लिच्छिवि, करण, खस व द्राविड़ क्षत्रियोंके साथ नाट अथवा नात (ज्ञात्रिक) क्षत्रियोंको व्रात्य लिखा है। (मनु० स० १०।२२) यह इसी कारण है कि इन लोगोंमें जैनधर्मकी प्रधानता थी। व्रात्य अथवा व्रतिन् नामसे जैनियोंका उल्लेख पहले हुआ मिलता है। (भ० पा० प्रस्तावना, पृ० ३२) भारतके धार्मिक इतिहासमें नाथ अथवा ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका नाम अमर है। इनका महत्व इससे प्रकट है कि यही वह महत्वशाली जाति है जिसने भारतको एक बड़े भारी सुधारक और महापुरुषको समर्पित किया था। महापुरुष जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे।

ज्ञात्रिक क्षत्री।

आधुनिक साहित्यान्वेषणसे प्रगट हुआ है कि ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका निवासस्थान मुख्यतः वैशाली (बसाढ़), कुण्डग्राम और वणिय ग्राममें था।[3] कुण्डग्रामसे उत्तर-पूर्वीय दिशामें सन्निवेश कोल्लाग था। कहते हैं कि यहां ज्ञात्रिक अथवा नाथवंशी क्षत्री सबसे अधिक संख्यामें रहते थे।[4] वैशालीके बाहिर पास ही में कुण्डग्राम स्थित था; जो संभ-

ज्ञात्रिक क्षत्रियोंका निवासस्थान।

१-क्षक्षत्राए ३०, पृ० ११५-११६। २-वृजैश०, पृ० ७ ३-उ० ६०, २-२ फुटनोट। ४-उद० २१४ फुट०।

था, इसलिये बड़ा वैभवशाली था। जैनशास्त्रोंमें इसकी शोभाका अपूर्व वर्णन मिलता है। फिर जिस समय भगवान महावीरका जन्म होनेको हुआ था, उस समय तो, वह कहते हैं, कि स्वयं कुबेरने आकर इस नगरका ऐसा दिव्यरूप बना दिया था कि उसे देखकर अलकापुरी भी लज्जित होती थी। भगवानके जन्म पर्यंत वहां स्वर्ण और रत्नोंकी वर्षा हुई बतलाई गई है। राजा सिद्धार्थका राजमहल सात मंजिलका था और उसे 'सुनंदावर्त्त' प्रासाद कहते थे[२]।

भगवान महावीर-का जन्म और बाल्यजीवन।

स्वर्गलोकके पुष्पोत्तर विमानसे चयकर वहांके देवका जीव आषाढ़ शुक्ला षष्ठीके उत्तराफाल्गुणी नक्षत्रमें रानी त्रिशलाके गर्भमें आया था। उससमय उनको १६ शुभ स्वप्न दृष्टि पड़े थे* और देवोंने आकर आनन्द उत्सव मनाया था। जैन शास्त्रोंके अनुसार प्रत्येक तीर्थंकरके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष अवसरपर देवगण आकर आनन्दोत्सव मनाते हैं। यह उत्सव भगवानके 'पच-कल्याणक' उत्सव कहलाते हैं। योग्य समयपर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको, जब चन्द्रमा उत्तराफल्गुणी पर था, रानी त्रिशलादेवीने जिनेन्द्र भगवान महावीरका प्रसव किया था। उस समय समस्त लोकमें अल्पकालके लिये एक आनन्द लहर दौड़ गई थी। भगवानका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार और होशियारीसे होता था। शैशवकालसे ही वे बड़े पराक्रमी थे।

१-केहिइं० पृ० १७७। २-उ० पु० पृ० ६०५। ३-उ० पु० पृ० ६०४। * श्वेताम्बरमें १४ स्वप्न बताए हैं। ४-उ० पु० पृ० ६०५ व Js L 266.

एक दफे उनने एक मत्त हाथीको देखते ही देखने वश कर लिया था और दूसरी बार जब वे राज्योद्यानमें बाल सहचरों समेत खेल रहे थे, तब उनने एक विकराल सर्पको बातकी बातमें कील दिया था। वह महापुरुष थे। उन्होंने अपने पूर्वभवोंमें इतना विशिष्ट पुण्य संचय कर लिया था कि उनके जन्मसे ही अनेक असाधारण लक्षण और गुण विद्यमान थे। वे जन्मसे ही मति, श्रुति और अवधिज्ञानसे विभुषित थे। इसलिये उनका ज्ञान अनायास बड़ा चढ़ा था। राजमहलमें वे काव्य, पुराण आदि ग्रन्थोंका खुब पठन पाठन करते थे। इस छोटी उमरसे ही उनका स्वभाव त्यागवृत्तिको लिये हुये था। जब वह आठ वर्षके थे, तब उनने श्रावकोंके व्रतोंको ग्रहण कर लिया था। अहिंसा, सत्य, शील, अचौर्य और परिग्रह प्रमाण नियमोंका वह समुचित पालन करते थे[५]। संजयविजय नामक चारण मुनि उनके दर्शन पाकर सन्मतिको प्राप्त हुये थे।×

५-मम० पृ० ६९-८२। श्वेतांबरोंके अर्वाचीन ग्रंथोंमें लिखा है कि 'ऐन्द्र' नामका एक व्याकरण ग्रंथ बनाया था, किन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता। (जैन हि० भा० १४ पृ० ३४५)।

× म० बुद्धके समकालीन मतप्रवर्तकोंमें एक संजय अथवा संजयवैरत्थीपुत्र नामक भी था। बौद्ध कहते हैं कि इनके शिष्य मौद्गलायन और सारीपुत्र थे; जो बौद्ध होगये थे। जैन शास्त्रोंमें मौद्गलायनको पहले जैन मुनि लिखा है। अतः संजय वैरत्थीपुत्रका भी जैन होना सुसंगत है। हम समझते हैं, संजय चारण मुनि और यह एक ही व्यक्ति थे। विशेषके लिये देखो 'भगवान महावीर और म० बुद्ध' पृ० २२-२३।

'देवदूष्य वस्त्र' से क्या भाव है, यह श्वेताम्बर शास्त्रोंमें नहीं बतलाया गया है। वह कहते है कि देवदूष्य वस्त्र पहिने हुये भी भगवान नग्न दिखते थे। इसका साफ अर्थ यही है कि वे नग्न थे। एक निष्पक्ष व्यक्ति उनके कथनसे इसके अतिरिक्त और कोई मतलब निकाल ही नहीं सक्ता है[1]। फलतः श्वेताम्बरीय शास्त्रोंमें भी भगवानका नग्न दिगम्बर मुनि होना प्रगट है। अचेलक अथवा नग्न दशाको उनके 'आचारांग सूत्र' में सर्वोत्कृष्ट अवस्था बतलाई है[2]। अचेलकसे भाव यथाजात नग्न स्वरूपके अतिरिक्त यहांपर और कुछ नहीं होसक्के; यह बात बौद्ध शास्त्रोंके कथनसे स्पष्ट है[3]।

बौद्ध शास्त्रोंमें जैन मुनियों अथवा निर्ग्रन्थ श्रमणोंको सर्वत्र नग्न साधु लिखा है[4] और यह साधु केवल भगवान महावीरके तीर्थके ही नहीं है, प्रत्युत उनसे पहले भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थके भी है[5]। अतएव भगवान पार्श्वनाथ एवं अन्य तीर्थकरोंका पूर्ण नग्न दशाको साधु अवस्थामें धारण करना प्रमाणित है। श्वेताम्बरीय आचारांग सुत्रमें भी शायद इसी अपेक्षा लिखा है कि 'तीर्थङ्करोने भी इस नग्न वेशको धारण किया था।' इससे प्रत्यक्ष प्रगट है कि भगवान महावीरजीके अतिरिक्त अवशेष तीर्थङ्करोंने

१–कसू० स्टीवेन्सन, पृ० ८५ फुटनोट। २–Js. Pt. I. pp 55–56. ३–दीनि० पाटिकसुत्त, वीर वर्ष ४ पृ० ३५३। ४–भमबु० पृ० ६०–६१ और २४९–२५५, जैसे दिव्यावदान पृ० १८५, जातकमाला (S. B. B. Vol. I.) पृ० १४५, महावग्ग ८, १५, ३,१, ३८, १६, डायोलॉग्स ऑफ दी बुद्ध भा० ३ पृ० १४ इत्यादि। ५–भमबु० पृ० २३६–२४०। ६–J. S. I. pp. 57–58.

संसारमें भ्रमण करते हुये समान रीतिसे दुःखका अन्त करते हैं।' (संधावित्वा संसरित्वा दुःखस्सान्तम् करिस्मन्ति), पातंजलिने भी अपने पाणनिसूत्रके भाष्यमें गोशालके सम्बन्धमें कुछ ऐसा ही सिद्धांत निर्दिष्ट किया है। उसने लिखा है कि वह 'मस्करि' केवल बांसकी छडी हाथमें लेनेके कारण नहीं कहलाता था; प्रत्युत इसलिये कि वह कहता था-"कर्म मत करो, कर्म मत करो, केवल शांति ही वाञ्छनीय है।" (मा कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि इत्यादि)[२]।

अतएव दिगम्बर जैनाचार्यने मक्खलिगोशालको जो अज्ञान मतका प्रचारक लिखा है, वह ठीक प्रतीत होता है। और अन्य श्रोतोंसे यह भी प्रगट है कि वह विधिकी रेखको अमिट मानता था। कहता था कि जो बात होनी है, वह अवश्य होगी; और उसमें पाप-पुण्य कुछ नहीं है। इस अवस्थामें उसके निकट ईश्वरका अस्तित्व न होना स्वाभाविक है। इस प्रकार दि० शास्त्रोंका उपरोक्त कथन ठीक जचता है। और यह मानना पडता है कि मक्खलि गोशाल भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थका एक मुनि था और बहुश्रुती होते हुये भी जब उसे श्री वीर भगवानके समवशरणमें प्रमुख स्थान न मिला, तो वह उनसे रुष्ट होकर स्वतंत्र रीतिसे अज्ञानमतका प्रचार करने लगा।

मक्खलि गोशाल और पूरण कस्सप। पूरण जैन मुनि था।

किन्तु देवसेनाचार्यजीने मक्खलि गोशालका नामोल्लेख 'मस्करिपूरण' रूपमें किया है[३]। संभव है, इससे उसका भाव गोशालसे न समझा जाय और उपरोक्त कथनको असंगत माना जाय; किंतु

१-दीनि० मा० २ पृ० ५३-५४। २-आजी० पृ० १२। ३-भावसंग्रह गा० १७६।

प्राप्त करनेके समयसे दो वर्ष पहिले गोशालने स्वधर्म प्रचार प्रारम्भ किया, बतलाते हैं[1] ।

भगवान महावीर उज्जैनीसे विहार करके कौशाम्बी पहुचे थे।

महावीरको केवलज्ञानकी प्राप्ति ।

यहांपर उनका आहार दलित अवस्थामें ही रहती हुई राजकुमारी चन्दनाके यहां हुआ था; जिससे भगवानका पतितोद्धारक स्वरूप स्पष्ट होकर मन मोह लेता है। कौशांबीसे भगवान पुन: एकांतवासमें निश्चल ध्यानारूढ़ रहे थे। उन्होंने एक टक बारह वर्ष तक दुद्धर तपश्चरण करनेका कठिन परन्तु दृढ़तम आत्मबल प्रगट करनेवाला नियम ग्रहण किया था। इस बारह वर्षके तपश्चरणके उपरांत उनको पूर्णज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। दिगम्बर और श्वेतांबर दोनों ही संप्रदायोंके शास्त्र जीवनकी इस मुख्य घटनाके समय महावीरजीकी अवस्था ब्यालीस वर्षकी बतलाते हैं[2]। श्वेतांबर शास्त्र कहते हैं कि उपरोक्त बारह वर्षकी घोर तपस्याका अभ्यास उनने लाढ़ देशके दो भागों—वज्र-भूमि और सुब्भभूमिके मध्य जाकर किया था और उनको वहीं केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी[3]। महावीरकी महान् विजयके ही कारण लाढ़का उक्त प्रदेश 'विजयभूमि' के नामसे प्रख्यात हुआ था। भगवानने 'विजय मुहूर्त' में ही सर्वज्ञपद पाया था।

उस समय यह लाढ़ देश बड़ा दुश्चर था और भगवानको यहांपर बड़ी गहन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा था। किन्तु

१-Appendiss. २-हरि० पृ० ५७५ व Js. I. p 269. ३-Js. I, p, 263. ४-इहिक.० भा० ४ पृ० ४४ । ५-कैहिइ० पृ० १५८ ।

वे उन सबपर विजयी हुये थे और उन्होंने सर्वज्ञ होकर 'विजय-धर्म' प्रतिपोषित करनेका उच्च निनाद किया था। केवलज्ञान प्राप्तिकी महत्वपूर्ण घटनाके विषयमें कहा गया है कि एक 'सुव्रत' नामक दिनको ऋजुकूला अथवा ऋजुपालिका नदीके वामतटपर जृम्भक नामक ग्रामके निकट पहुंच कर, अपराह्नके समक्ष अच्छी तरहसे षष्ठोपवासको धारण करके सालवृक्षके नीचे एक चट्टानपर आसन जमाकर महावीरजीने वैशाख शुक्ला दशमीके तिथिमें सर्वज्ञपदको प्राप्त किया था। इस समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र और विजय-मुहूर्त थी। जिस स्थानपर भगवानने केवलज्ञानकी विभुति पाई थी, वह स्थान सामाग नामक कृषकके खेतमें था और एक प्राचीन मंदिरसे उत्तर पूर्वकी ओर था[२]। वहां महावीरजी सर्वज्ञ हुये और परम वंदनीय परमात्मा होगये थे। वह शुद्ध बुद्ध चैतन्य स्वरूप सशरीर ईश्वर अथवा पूज्य अर्हत या तीर्थंकर हुये थे। समस्त लोकमें आनंद छागया और देवोंने आकर उस समय आनंदोत्सव मनाया था।[१]

भगवान महावीरका केवलज्ञान-स्थान।

आज स्पष्टरूपमें यह विदित नहीं है कि भगवान महावीरका केवलज्ञान स्थान कहांपर है? भगवानके जन्म व निर्वाणस्थानोंके समान जैन समाजमें किसी भी ऐसे स्थानकी मान्यता नहीं है कि वह केवलज्ञान प्राप्तिका पवित्र स्थान कहा जासके। जयपुर रियासतके चांदनगांवमें एक नदीके निकटसे भगवान महावीरजीकी एक बहुप्राचीन मूर्ति भूगर्भसे उपलब्ध हुई थी। वह मूर्ति वहींपर एक विशाल मंदिर

१-उपु० पृ० ६१४ व Js. I, 201. २-आचाराङ्ग Js. I. pp. 20/57.

बनवाकर विराजमान करदी गई थी और वहीं निकटमें भगवानके चरणचिह्न भी हैं।[1] इस प्रकार दिगम्बर शास्त्रोंमें बताये हुये केवलज्ञान स्थानके वर्णनसे इस स्थानकी आकृति ठीक पकड़ी बैठती है और इससे यह भ्रम होसक्ता है कि यही स्थान भगवान महावीरजीके केवलज्ञान प्राप्त करनेका दिव्यस्थान होगा; किन्तु जैन समाजमें यह स्थान केवल एक अतिशय तीर्थरूपमें 'महावीरजी'के नामसे मान्य है। तिसपर शास्त्रोंमें बताया हुआ केवलज्ञान स्थान कौशाम्बीसे अगाड़ी कहीं होना उचित है; क्योंकि उज्जयनीसे कौशाम्बीको जाते हुये उपरोक्त अतिशयक्षेत्र पीछे मार्गमें रह जाता है। और श्वेताम्बर शास्त्र जृम्भक ग्राम आदिको लाट देशमें स्थित बतलाते हैं।[2]

अत यह केवलज्ञान स्थान मगधदेशमें कहीं होना युक्तिसंगत है। किन्हीं दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें इसे मगधदेशमें बतलाया भी है।[3] लाढ़देशका विजयभूमि प्रान्त आजकलके बिहार ओड़ीसा प्रांतस्थ छोटा नागपुर डिवीजनके मानभूम और सिंहभूम जिलों इतना माना गया है। स्व० नंदुलाल डे महाशयने सम्मेदशिखर पर्वतसे २९-३० मीलकी दूरीपर स्थित जरियाको जृम्भक ग्राम प्रगट किया है: जो अपनी कोयलोंकी खानोंके लिये प्रसिद्ध है और बराकर नदीको ऋजुकूला नदी सिद्ध की है।[4]

१—वीर भा० २ पृ० ३१७ पर हमने भ्रमसे इसी स्थानको केवलज्ञान स्थान अनुमान किया था। २—क्सू० Js. I, p. 263. ३—भूजैश०-पृ०-६१। ४—इंहिक्वा०-भा० ४-पृ०-४४-४६ व वीर भा० ५ पृ०

यह स्थान मानभूम ज़िलेमें है और प्राचीन मगधका राज्याधिकार यहां था। अतएव यह बहुत संभव है कि उक्त स्थान ही महावीरजीका केवलज्ञान स्थान हो। इसके लिये झिरियाके निकटवर्ती ध्वंशावशेषोंकी जांच पड़ताल होना जरूरी है। इतना तो विदित ही है कि इन जिलोंमे 'सराक' नामक प्राचीन जैनी बहुत मिलते हैं और इनमें एक समय जैनोंका राज्य भी था। किंतु कालदोष एवं अन्य संप्रदायोंके उपद्रवोंसे यहांके जैनियोंका ह्रास इतना वेढव हुआ कि वे अपने धर्म और सांप्रदायिक संस्थाओंके बारेमें कुछ भी याद न रख सके। यही कारण है कि इस प्रांतमें स्थित भगवान महावीरजीके केवलज्ञान स्थानका पता आज नहीं चलता है। डा० स्टीन सा० ने पंजाब प्रांतके रावलपिंडी जिलेमें कोटेरा नामक ग्रामके सन्निकट 'मूर्ति' नामक पहाड़ीपर एक प्राचीन जीर्ण जैन मंदिरके विषयमें लिखा है कि यहींपर भगवान महावीरजीने ज्ञान लाभ किया था। किंतु कौशाम्बीसे इतनी दूरीपर और सो भी नदीके सन्निकट न होकर पहाड़ीके ऊपर भगवानका केवलज्ञान स्थान होना ठीक नहीं जंचता। केवलज्ञान स्थान तो मगधदेशमें ही कहीं और बहुत करके झिरियाके सन्निकट ही था। उपरोक्त स्थान भगवानके समोशरणको वहां आया हुआ व्यक्त करनेवाला अतिशयक्षेत्र होगा, क्योंकि यह तो विदित है कि भगवान महावीर विहार करते हुये तक्षशिला आये थे[3] और मूर्तिपर्वत उसके निकट था। ✓

१-बविओजैस्मा० पृ० ४२-७७। २-कजाइ० पृ० ६८३।
३-हॉजै० पृ० ८० फु० नो०

भगवान महावीर सर्वज्ञ थे। अजैन ग्रंथोंकी साक्षी।

भगवान महावीरने जिस अपूर्व त्यागवृत्ति और अमोघ आत्म-शक्तिका अवलंबन किया था, उसीका फल था कि वह एक सामान्य मनुष्यसे आत्मोन्नति करते२ परमात्मपद जैसे परमोत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त हुये थे। वह सर्वज्ञ हो गये थे।[१] जैन शास्त्र कहते हैं कि ज्ञात्रिक महावीर भी अनंतज्ञान और अनंतदर्शनके धारी थे। प्रत्येक पदार्थको उनने प्रत्यक्ष देख लिया था और वे सर्व प्रकारके पाप-मलसे निर्मुक्त थे। वह समस्त विश्वमें सर्वोच्च और महाविद्वान थे। उन्हें सर्वोत्कृष्ट, प्रभावशाली, दर्शन, ज्ञान और चारित्रसे परिपूर्ण और निर्वाण सिद्धान्त प्रचारकोंमें सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।[२] यह मान्यता केवल जैनोंकी ही नहीं है। ब्राह्मण और बौद्ध ग्रन्थ भी भगवान महावीरजीकी सर्वज्ञताको स्वीकार करते हैं।[३] बौद्धोंके अंगुत्तरनिकायमें लिखा है कि भगवान महावीरजी सर्वज्ञाता और सर्वदर्शी थे। उनकी सर्वज्ञता अनंत थी। वह हमारे चलते, बैठते, सोते, जागते हर समय सर्वज्ञ थे।[४] वह जानते थे कि किसने किस प्रकारका पाप किया है और किसने नहीं किया है।[५] बौद्ध शास्त्र कहते हैं कि महावीर संघके आचार्य, दर्शन शास्त्रके प्रणेता, बहुप्रख्यात, तत्ववेत्ता रूपमें प्रसिद्ध, जनता द्वारा सम्मानित, अनुभवशील वय प्राप्त साधु और आयुमें अधिक थे। (डायोलॉगस

१-उपु० पृ० ६१४। २-Js. II, pp. 267-270. ३-मज्झिमनिकाय १।२३८ व ९२-९३, अंगुत्तरनिकाय ३।७४, न्यायबिन्दु अ० ३, चुल्लवग्ग SBE. XX 78, Ind, Anti. VIII. 313. पञ्चतन्त्र (Keilhorn, V I.) इत्यादि। ४-अं० नि० भाग १ पृ० २२०। ५-मझि० भाग २ पृ० २१४-२२८।

आफ दी बुद्ध पृ० ६६) वे चातुर्याम संवरसे स्वरक्षित, देखी और सुनी बातोंको ज्योंका त्यों प्रगट करनेवाले साधु थे (संयुत्त० भा० १ पृ० ९१) जनतामें उनकी विशेष मान्यता थी। (पूर्व पृ० ९४)।

सचमुच तीर्थंकर भगवानके दिव्य जीवनमें केवलज्ञानप्राप्तिकी एक ऐसी बड़ी और मुख्य घटना है कि उसका महत्व लगाना सामान्य व्यक्तिके लिये जरा टेढ़ी खीर है। हां ' जिसको आत्माके अनन्तज्ञान और अनन्त शक्तिमें विश्वास है, वह सहजमें ही इस घटनाका मूल्य समझ सक्ता है। केवलज्ञान प्राप्त करना अथवा सर्वज्ञ होजाना, मनुष्य जीवनमें एक अनुपम और अद्वितीय अवसर है। भगवान महावीर जब सर्वज्ञ होगये, तो उनकी मान्यता जनसाधारणमें विशेष होगई। उस समयके प्रख्यात राजाओंने भक्तिपूर्वक उनका स्वागत किया। प्रत्येक प्राणी तीर्थंकर भगवानको पाकर परमानन्दमें मग्न होगया। बौद्ध शास्त्र भी महावीरजीके इस विशेष प्रभावको स्पष्ट स्वीकार करते हैं[1]। मालूम तो ऐसा होता है कि भगवान महावीरके कार्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण होनेसे उस समयके प्राय: सब ही मतप्रवर्तकोंके आसन ढीले होगये थे और भगवानकी प्राणी मात्रके लिये हितकर शिक्षाको प्रमुखस्थान मिल गया था।

भगवानका दिव्य प्रभाव।

उस समयके प्रख्यात मतप्रवर्तक म० गौतम बुद्धके विषयमें तो स्पष्ट है कि उनके जीवनपर भगवान महावीरकी सर्वज्ञ अवस्थाका ऐसा प्रबल प्रभाव पड़ा था कि भगवान महावीरके धर्म

म० गौतम बुद्धके जीवनपर भगवान महावीरका प्रभाव।

1—संयुक्तनिकाय भा० १ पृ० ५४।

प्रचारके अन्तराल काल तक उनके दर्शन ही मुश्किलसे होते हैं। म० बुद्धके ६० से ७० वर्षके मध्यवर्ती जीवन घटनाओंका उल्लेख नहींके बराबर मिलता है[1]। रेवरेन्ड बिशप बिगन्डेट सा० तो कहते हैं कि यह काल प्राय: घटनाओंके उल्लेखसे कोरा है[2]। (An almost blank) म० बुद्धके उपरोक्त जीवनकालकी घटनाओंके न मिलनेका कारण सचमुच भगवान महावीरके धर्मप्रचारका प्रभाव है: क्योंकि यह अन्यत्र प्रमाणित किया जाचुका है कि जिससमय भगवान महावीरजीने अपना धर्मप्रचार प्रारम्भ किया था, उस समय म० बुद्ध अपने 'मध्य मार्ग' का प्रचार प्रारम्भ कर चुके थे और अनुमानसे ४९ या ४८ वर्षकी अवस्थामें थे[3]। अतः यह बिलकुल सम्भव है कि महावीरजीका उपदेश इस अन्तराल कालमें इतना प्रभावशाली अवश्य होगया था कि म० बुद्धके जीवनके ६० वें वर्षसे उनकी जीवन घटनायें प्राय: नहीं मिलती हैं।

'सामगाम सुतन्त' में भगवान महावीरजीके निर्वाण प्राप्तिकी खबर पाकर म० बुद्धके प्रमुख शिष्य आनन्द बड़े हर्षित हुये थे और बडी उत्सुकतासे यह समाचार म० बुद्धको सुनानेके लिये दौड़े गये थे,[4] इससे भी साफ प्रगट है कि म० गौतमबुद्धको महावीरजीके धर्मप्रचारके समक्ष अवश्य ही हानि उठानी पड़ी थी; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो महावीरजीके निर्वाण पालेनेकी घटनाको बौद्ध बड़ी उत्कण्ठा और हर्षभावसे नहीं देखते। भगवान महावीरके समक्ष म० बुद्धका प्रभाव क्षीण पडेनेमें एक और कारण

१-भमबु० पृ० १००-११०। २-सॉन्डर्स, गौतमबुद्ध पृ० ५४। ३-भमबु० पृ० १०१। ४-डायोलॉग्स ऑफ बुद्ध भा० ३ पृ० ११२।

दोनों मत प्रवर्तकोंका विभिन्न मात्राका ज्ञान भी था। महावीरजी पूर्ण सर्वज्ञ और त्रिकालदर्शी थे, यह बात स्वयं बौद्ध शास्त्र प्रगट करते हैं; जैसे कि ऊपर व्यक्त किया गया है। किन्तु म० बुद्धको यद्यपि बौद्ध शास्त्र सर्वज्ञ बतलाते हैं; परन्तु यह बात वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि म० बुद्धकी सर्वज्ञता हरसमय उनके निकट नहीं रहती थी। वह जब जिस बातको जानना चाहते थे, उस बातको ध्यानसे जान लेते थे। अतः म० बुद्धका ज्ञान पूर्ण सर्वज्ञता न होकर एक प्रकारका अवधिज्ञान प्रगट होता है[2]।

ज्ञानके इस तारतम्यको समझकर ही शायद म० बुद्धने कभी भी जैन तीर्थंकरसे मिलनेका प्रयास नहीं किया था और न उनने महावीरजीकी वैसी तीव्र आलोचना की है, जैसे कि उन्होंने उस समयके अन्य मत-प्रवर्तकोंकी की थी। किन्तु इस कथनसे यहां हमारा भाव म० बुद्धके गौरवपूर्ण व्यक्तित्वकी अवज्ञा करनेका नहीं है। हमारा उद्देश्य मात्र भगवान महावीरके दिव्य प्रभावको प्रगट करनेका है; जिसका विशिष्ट रूप स्वयं बौद्ध शास्त्र प्रगट करते हैं। बौद्धोके कथनसे यह भी प्रगट होता है कि उस समयके विदेशी लोगो-यवनो (Indo-Greeks) में भी भगवान महावीरजीकी मान्यता विशेष होगई थी[3]। सर्वज्ञ प्रभुका महत्व किसको अछूता छोड़ सक्ता है?

गौतम बुद्धका ज्ञान।

भगवानके केवली होते ही जनता उनके अनुपम महान् व्यक्तित्वपर एकदम मोहित होगई प्रगट होती है। इस दिव्य घटनाके

1-मिलिन्दपन्ह (SBE.) भा० ३५ पृ० १५४। २-ममबु० पृ० ७२-७५। ३-हिग्ली० पृ० ७८।

उपक्रममें ही उन स्थानोंके नाम भगवान महावीरजीकी अपेक्षा उल्लिखित हुये जिनका सम्बन्ध महावीरजीसे था। कहते हैं मानभूमि जिला, मान्यभूमि रूपमें भगवानके अपरनाम "मान्य श्रमण" की अपेक्षा कहलाया था। सिंघभूम जिलाका शुद्ध नाम 'सिंहभूमि' बताया गया है और कहा गया है कि वीर प्रभुकी सिंहवृत्ति थी और उनका चिन्ह 'सिंह' था; इसलिये यह जिला उन्हींकी अपेक्षा इस नामसे प्रख्यात हुआ था[१]। इनके अतिरिक्त विजयभूमि, वर्द्धमान (वर्द्धवान), वीरभूमि आदि स्थान भी भगवान महावीरजीके पवित्र नाम और उनके सम्बन्धको प्रगट करनेवाले हैं[३]। सचमुच बंगाल व बिहारमें उससमय जैनधर्मकी गति विशेष थी और जनता भगवान महावीरको पाकर फूले अंग नहीं समाई थी।

म० बुद्ध एक समय जैन मुनि थे।

म० गौतम बुद्ध बौद्धधर्मके प्रणेता थे और वह भगवान महावीरके समकालीन थे। जैन शास्त्रोंमें उनको भगवान पार्श्वनाथजीके तीर्थके मुनि पिहिताश्रवका शिष्य बतलाया है। लिखा है कि दिगम्बर जैन मुनि-पदसे भ्रष्ट होकर रक्ताम्बर पहिनकर बुद्धने क्षणिकवादका प्रचार किया और मृत मांस ग्रहण करनेमें कुछ संकोच नहीं किया था। जैन शास्त्रके इस कथनकी पुष्टि स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंसे होती है। उनमें एक स्थानपर स्वयं गौतम बुद्ध इस बातको स्वीकार करते हैं

१-इंहिक्वा० भा० ४ पृ० ४५। २-पूर्व प्रमाण। ३-बर भा० ३ पृ० ३७० व पविओ जैस्मा० पृ० १०९। ४-भमबु० पृ० ४८-४९ म० बुद्धको अनात्मवाद सहसा मान्य नहीं था। उनने स्पष्टतः आत्माके अस्तित्वसे इन्कार नहीं किया था। यह उनकी जैन दशाका प्रभाव कहा जासकता है।

प्रारम्भ कर दिया था। उनका उपदेश हितमित पूर्ण शब्दोंमें समस्त जगतके जीवोंके लिये कल्याणकारी था। उस आदर्श रूप उपदेशको सुनकर किसीका हृदय जरा भी मलिन या दुखित नहीं होता था। बल्कि उसका प्रभाव यह होता था कि प्रकृत जाति विरोधी जीव भी अपने पारस्परिक वैरभावको छोड़ देते थे। सिंह और भेड़, कुत्ता और बिल्ली बड़े आनंदसे एक दूसरेके समीप बैठे हुये भगवानके दिव्य संदेशको ग्रहण करते थे। पशुओंपर भगवानका ऐसा प्रभाव पड़ा हो, इस बातको चुपचाप ग्रहण कर लेना इस जमानेमें जरा कठिन कार्य है। किंतु जो पशु विज्ञानसे परिचित हैं और पशुओंके मनोबल एवं शिक्षाओंको ग्रहण करनेकी सूक्ष्म शक्तिकी ओर जिनका ध्यान गया है, वह उक्त प्रकार भगवान महावीरके उपदेशका प्रभाव उन पर पड़ा माननेमें कुछ अचरज नहीं करेंगे।

सचमुच वीतराग सर्व हितैषी अथवा सत्य एवं प्रेमकी साक्षात जीती जागती प्रतिमाके निकट विश्वप्रेमका आश्चर्यकारी किंतु अपूर्व वातावरण उपस्थित होना, कुछ भी अप्राकृत दृष्टि नहीं पड़ता! विश्वका उत्कृष्ट कल्याण करनेके निमित्त ही भगवानके तीर्थङ्कर पदका निर्माण हुआ था। 'लेकिन उन्होंने अपना निर्माण सिद्ध करनेके निमित्त कभी किसी प्रकारका अनुचित प्रभाव डालनेकी कोशिश नहीं की और न कभी उन्होंने किसीको आचार विचार छोड़कर अपने दलमें आनेके लिए प्रलोभित ही किया। उनकी उपदेश पद्धति शांत, रुचिकर, दुश्मनोंके दिलोंमें भी अपना असर पैदा करनेवाली, मर्मस्पर्शी और सरल थी।' 'सबसे पहिले उन्होंने

प्रख्यात था । उसीके संसर्गसे राजाको भी जैनधर्ममें प्रतीत हुई थी । अर्हद्दास सेठने भगवान महावीरजीके निकटसे व्रत नियम ग्रहण किये थे[1] । उत्तर मथुराके समान ही दक्षिण मथुरामें भी जैनधर्मका अस्तित्व उस समय विद्यमान था । भगवानके निर्वाणोपरात यहांपर गुप्ताचार्यके आधीन एक बडा जैनसघ होनेका उल्लेख मिलता है[3] ।

दक्षिण भारतमें वीर प्रभू ।

भगवान महावीरजीका विहार दक्षिण भारतमें भी हुआ था। कांचीपुरका राजा वसुपाल था और वह सभवतः भगवानका भक्त था।(आक० भा० ३ पृ० १८१) जिस समय भगवान हेमांगदेशमें पहुंचे थे, उस समय राजा सत्यंधरके पुत्र जीवधर राज्याधिकारी थे। हेमांगदेश आजकलका मईसूर (Mysore) प्रांतवर्ती देश अनुमान किया गया है, क्योंकि यहींपर सोनेकी खाने हैं, मलय पर्वतवर्ती वन है और समुद्र निकट है । हेमांगदेशके विषयमें यह सब बातें विशेषण रूपमें लिखीं हैं । हेमांग देशकी राजधानी राजपुर थी, जिसके निकट ' सुरमलय ' नामक उद्यान था । भगवानका समोशरण इसी उद्यानमें अवतरित हुआ था। राजा जीवंधर भगवान महावीरको अपनी राजधानीमें पाकर बडा प्रसन्न हुआ था। अन्तमें वह अपने पुत्रको राजा बनाकर मुनि होगया था। मुनि होकर वह वीर संघके साथ रहा था। जब वीरसघ विहार करता हुआ उत्तरापथकी ओर पहुंचा था, तब जीवधर मुनिराजने अग्रह केवलीरूपमें राजगृहके विपुलाचल पर्वतसे

१-प्रश्नो० पृ० ६ । २-वीर वर्ष ३ पृ० ३५४ । ३-आक० भा० १ पृ० ६३ ।

सन्यास जीवनमें भी यदि वासना-तृप्तिके साधन जुटाये रक्खे जांये और केवलज्ञानकी आराधनासे अविनाशी सुख पालेनेका प्रयत्न किया जाय तो उसमें असफलताका मिलना ही सभव है। त्यागी हुये-घर छोडा स्त्री पुत्रसे नाता तोड़ा और फिर भी निर्लिप्तभावकी आड़ लेकर वासना वर्द्धन सामग्रीको इकट्ठा कर लिया, वासनाको तृप्त करनेका सामान जुटालिया, तो फिर वास्तविक सत्यमें विश्वास ही कहां रहा? यह निश्चय ही शिथिल होगया कि भोगसे नहीं, योगसे पूर्ण और अक्षय सुख मिलता है। और यह हरकोई जानता है कि किसी कार्यको सफल बनानेके लिये तद्वत् विश्वास ही मूल कारण है। दृढ़ निश्चय अथवा अटल विश्वास फलका देनेवाला है।

भगवान महावीरने इन आवश्यक्ताओंको देखकर ही और उनका प्रत्यक्ष अनुभव पाकर 'सम्यग्दर्शन' अथवा यथार्थ श्रद्धाको सच्चे सुखके मार्गमें प्रमुख स्थान दिया था। किन्तु वह यह भी जानते थे कि जिस प्रकार कोरा कर्मकांड और निरा ज्ञान इच्छित फल पानेके लिये कार्यकारी नहीं है, उसी प्रकार मात्र श्रद्धानसे भी काम नहीं चल सक्ता। इसीलिये इन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका युगपत होना अक्षय और पूर्ण सुख पानेके-लिये आवश्यक बतलाया था।

सम्यग्दर्शनको पाकर मनुष्योंको निवृत्ति मार्गमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हुई थी। वह जान गये थे कि यह जगत अनादि निधन है। जीव और अजीवका लीला-क्षेत्र है। यह दोनों द्रव्य अकृत्रिम अनंत और अविनाशी हैं। अजीवने जीवको अपने प्रभावमें दबा रक्खा है। जीव शरीर बन्धनमें पड़ा हुआ है। वह इच्छाओं और

और सिद्धांत थे, जैसे कि अन्य तीर्थंकरोंके धर्मोंमें थे[1] और जैनोंकी इस मान्यताको अब कई विद्वान् सत्य स्वीकार कर चुके हैं[2]।

श्री महावीर न जैनधर्मके संस्थापक थे और न जैन धर्म हिन्दू धर्मकी शाखा है।

किन्हीं विद्वानोंका यह मत है कि भगवान महावीरजी जैन धर्मके संस्थापक हैं और उन्होंने ही जैनधर्मका नींवारोपण वैदिक धर्मके विरोधमें किया था; किंतु उनका यह मत निर्मूल है। आजसे करीब दो हजार वर्ष पहलेके लोग भी भगवान ऋषभनाथजीकी विनय करते थे[3]। और उन लोगोंने अन्य तेईस तीर्थंकरोंकी मूर्तियां निर्मित कीं थीं[4]। अब यदि जैनधर्मके संस्थापक भगवान महावीरजी माने जावें, तो कोई कारण नहीं दिखता कि इतने प्राचीन जमानेमें लोग भगवान ऋषभनाथको जैनधर्मका प्रमुख समझने और उनकी एवं उनके बाद हुये तीर्थंकरोंकी मूर्तियां बनाते और उपासना करते। जिसपर स्वयं वैदिक[5] एवं बौद्धग्रन्थोंमें[6] इस युगमें जैनधर्मके प्रथम प्रचारक श्री ऋषभदेव ही बताये गये हैं।

अथच जैनोंके सूक्ष्म सिद्धान्त, जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदिमें जीव बतलाना, अणु और परमाणुओंका अति प्राचीन पर मौलिक एवं पूर्ण वर्णन करना, आदर्श पूजा आदि ऐसे नियम हैं जो जैनधर्मका अस्तित्व एक बहुत ही प्राचीनकाल तकमें सिद्ध कर-

---

१–भपा० पृ० ३८१–३८८। २–डॉ० ग्लैसेनाप (Der Jainismus). और डॉ० जार्लकार्पेन्टियर यह स्वीकार करते हैं (कैहिइ० पृ० १५४के उसू० भूमिका पृ० २१) ३–जैविओसो भा० ३ पृ० ४४७ व जैस्तू० पृ० २४...... ४–जैविओजैस्मा० पृ० ८८–१००। ५–भागवत ४–५ व भपा० भूमिका। ६–प्रतशाख वीर वर्ष ४ पृ० ३५३।

वानके संघमें गण भेदका पता चलता है। वीर संघमें कुल ग्यारह गणधर थे; जिनमें प्रमुख इन्द्रभूति गौतम थे। श्वेतांबर शास्त्रोंके अनुसार यद्यपि गणधर ग्यारह थे; परन्तु गण कुल नौ थे। यह नौ वृन्द अथवा गण इस प्रकार बताये गये हैं:—

(१) प्रथम मुख्य गणधर इन्द्रभुति गौतम, गौतम गोत्रके थे और उनके गणमें ५०० श्रमण थे।

(२) दूसरे गणधर अग्निभूति भी गौतम गोत्रके थे। इनके गणमें भी ५०० मुनि थे।

(३) तीसरे गणधर वायुभूति, इन्द्रभूति और अग्निभूतिके भाई थे और गौतम गोत्रके थे। इनके आधीन गणमें भी ५०० मुनि थे।

(४) आर्यव्यक्त चौथे गणधर भारद्वाज गोत्रके थे। इनके गणमें भी ५०० श्रमण थे।

(५) अग्नि वैश्यायन गोत्रके पांचवें गणधर सुधर्माचार्य थे, जिनके आधीन ५०० श्रमण थे।

(६) मण्डिकपुत्र अथवा मण्डितपुत्र वशिष्ट गोत्रके थे और २५० श्रमणोंको धर्म शिक्षा देते थे।

(७) मौर्य्यपुत्र काश्यप गोत्री भी २५० मुनियोंके गणधर थे।

(८) अकंपित गौतम गोत्री और हरितायन गोत्रके अचल भ्रात दोनों ही साथ२ तीनसौ श्रमणोंको धर्मज्ञान अर्पण करते थे।

(९) मैत्रेय और प्रभास कौंडिन्य गोत्रके थे। दोनोंके संयुक्त गणमें ३०० मुनि थे[1]।

१–ठाणांग० पृ० ५६ व कल्प० Js. I. 265.

'इसप्रकार महावीरजीके ग्यारह गणधर, नौ वृन्द और ४२००

वीरसंघके मुनि- श्रमण मुख्य थे। इसके सिवाय और बहुतसे
योंकी संख्या। श्रमण और आर्यिकाएं थीं, जिनकी संख्या क्रमसे चौदहहजार और छत्तीसहजार थी। श्रावकोंकी संख्या १५००० थीं और श्राविकाओंकी संख्या ३१८००० थी।'[1]

दिगम्बर आम्नायके ग्रंथोमें भगवानके इन्द्रभूति, अग्निभूति वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, मांडव्य, मौर्यपुत्र, अकंपन, अचल, मेदार्य और प्रभास, ये ग्यारह गणधर बताये गए हैं। ये समस्त ही सात प्रकारकी ऋद्धियोसे सपन्न और द्वादशाङ्गके वेत्ता थे। गौतम आदि पांच गणधरोंके मिलकर सब शिष्य दशहजार छैसो पचास और प्रत्येकके दोहजार एकसौ तीस २ थे। छठे और सातवें गणधरोंके मिलकर सब शिष्य आठसौ पचास और प्रत्येकके चारसौ पच्चीस २ थे। शेष चार गणधरोंमेंसे प्रत्येकके छैसो पच्चीस २ और सब मिलकर ढाईहजार थे। सब मिलकर चौदह-हजार थे।[2]

गणोंके अतिरिक्त आत्मोन्नतिके लिहाजसे यह गणना इस-प्रकार थी, अर्थात ९९०० साधारण मुनि; ३०० अंगपूर्वधारी मुनि; १३०० अवधिज्ञानधारी मुनि, ९०० ऋद्धिविक्रिया युक्त श्रमण, ५०० चार ज्ञानके धारी; ७०० केवलज्ञानी; ९०० अनुत्तरवादी। इस तरह भी सब मिलकर १४००० मुनि थे।[3]

१-भमम० पृ० १८१। २-हरि० पृ० २० (सर्ग ३ श्लो० ४०-४६) ३-हरि० पृ० २०।

शास्त्रोंसे भी प्रकट है। किन्तु इन दोनों मुनियोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह बौद्ध होगये थे, सो ठीक नहीं है। यह जैन मान्यताके विरुद्ध है। सचमुच भगवान महावीरजीका प्रभाव म० बुद्ध और उनके शिष्योंपर वेढब पड़ा था। यहांतक कि वह जैन मुनियोंकी देखादेखी अपनी प्रतिष्ठाके लिये नग्न भी रहने लगे थे;[1] क्योंकि उस समय नग्नता (दिगम्बर भेष) की मान्यता विशेष थी।[2]

चन्दना आदि आर्यिकायें।

वीरसंघका दूसरा अंग साध्वियों अथवा आर्यिकाओंका था। दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें इनकी संख्या छत्तीसहजार बताई गई है[3]। यह विदुषी महिलायें केवल एक सफेद साड़ीको ग्रहण किये गर्मी और जाड़ेकी घोर परीषह सहन करती हुई अपना आत्मकल्याण करतीं थीं और लोगोंको सन्मार्गपर लगाती थीं। वह भी मुनियोंके समान ही कठिन व्रत, संयम और आत्मसमाधिका अभ्यास करती थी। सांसारिक प्रलोभन उनके लिये तुच्छ थे। उनके संसर्गसे वे अलग रहती थीं। इन आर्यिकाओंमें सर्वप्रमुख राजा चेटककी पुत्री राजकुमारी चंदना थी; जिसका परिचय पहिले लिखा जाचुका है। चन्दनाकी मामी यशस्वती आर्यिका भी विशेष प्रख्यात् थी। चंदनाकी बहिन ज्येष्ठाने इन्हींसे जिन दीक्षा ग्रहण की थी। इन आर्यिकाओंका त्यागमई जीवन पूर्ण पवित्रताका आदर्श था। वे बड़ी ज्ञानवान और शास्त्रोंकी

१-इसेजै० पृ० ३६। २-इऐं० भा० ९ पृ० १६२। ३-ममा० पृ० १२० व हरि० पृ० ५७९ में २४००० बताई है। उपु० पृ० ६१६ में ३६००० है।

महावीरजीके जन्म होनेके पहिले ही ब्राह्मण वर्गकी प्रधानता थी। उसने शेष वर्णोंके सब ही अधिकार हथिया लिये थे। अपनेको पुजवाना और अपना अर्थसाधन करना उसका मुख्य ध्येय था। यही कारण था कि उस समय ब्राह्मणोंके अतिरिक्त किसीको भी धर्मकार्य और वेदपाठ करनेकी आज्ञा नहीं थी। ब्राह्मणेतर वर्णोंके लोग नीचे समझे जाते थे। शूद्र और स्त्रियोंको मनुष्य ही नहीं समझा जाता था। किन्तु इस दशासे लोग ऊब चले–उन्हें मनुष्योंमें पारस्परिक ऊंच नीचका भेद अखर उठा। उधर इतनेमें ही भगवान पार्श्वनाथका धर्मोपदेश हुआ और उससे जनता अच्छी तरह समझ गई कि मनुष्य मनुष्यमें प्राकृत कोई भेद नहीं है। प्रत्येक मनुष्यको आत्म स्वातंत्र्य प्राप्त है। कितने ही मत प्रवर्तक इन्हीं बातोंका प्रचार करनेके लिये अगाडी आगये[२]। जैनी लोग इस आन्दोलनमें अग्रसर थे।

साधुओंकी बात जाने दीजिये, श्रावक तक लोगोंमेंसे जाति-मूढ़ता अथवा जाति या कुलमदको दूर करनेके साधु प्रयत्न करते थे। रास्ता चलते एक श्रावकका समागम एक ब्राह्मणसे होगया। ब्राह्मण अपने जातिमदमें मत्त थे; किन्तु श्रावकके युक्तिपूर्ण वचनोंसे उनका यह नशा काफूर होगया। वह जान गये कि "मनुष्यके शरीरमें वर्ण आकृतिके भेद देखनेमें नहीं आते हैं, जिससे वर्णभेद हो; क्योंकि ब्राह्मण आदिका शूद्रादिके साथ भी गर्भाधान देखनेमें आता है। जैसे गौ. घोड़े आदिकी जातिका भेद पशुओंमें है, ऐसा जातिभेद मनुष्योंमें नहीं है; क्योंकि यदि आकारभेद होता तो

१–भम० पृ० ४७–५६। २–भमबु० पृ० १५–१७।

भगवान महावीरके समयमें भारतके पुरुष ऐसे ही कला कुशल और विद्वान् थे। वह लोग बालकको, जहां वह पांच वर्षका हुआ, विद्याध्ययन करनेमें जुटा देते थे;[1] किन्तु उस समयकी पठन पाठन प्रणाली आजसे बिल्कुल निराली थी। तब किसी एक निर्णीत ढांचेके पढ़े-लिखे लोग विद्यालयोंसे नहीं निकाले जातेथे और न आजकलकी तरह 'स्कूल' अथवा 'कालेज' ही थे। उस समयके विद्वान् ऋषि ही बालकोंकी शिक्षा दीक्षाका भार अपने ऊपर लेते थे। सर्व शास्त्रों और कलाओंमें निपुण इन ऋषियोंके आश्रममें जाकर विद्यार्थी युवावस्थातक शास्त्र और शस्त्रविद्यामें निष्णात हो वापिस अपने घर आते थे। तक्षशिला और नालंदाके विद्या आश्रम प्रसिद्ध थे। जैन मुनियोंके आश्रम भी देशभरमें फैले हुए थे। विदेहमें धान्यपुरके समीप शिखिर भूधर पर्वतपरके जैन आश्रममें प्रीतकर कुमार विद्याध्ययन करने गये थे[2]। मगध देशमें ऋषि गिरिपर भी जैन मुनियोंकी तपोभूमि थी[3]।

ऐसे ही अनेक स्थानोंपर आश्रमोंमें उपाध्याय गुरु बालक-बालिकाओंको समुचित शिक्षा दिया करते थे। विद्यार्थी पूर्ण ब्रह्म-चर्यसे रहते थे; जिसके कारण उनका शरीर गठन भी खूब अच्छी तरह होता था। विद्याध्ययन कर चुकनेपर युवावस्थामें योग्य कन्याके साथ विवाह होता था। किन्तु विवाहके पहिले ही युवक अर्थोपा-र्जनके कार्यमें लगा दिये जाते थे। इसके साथ यह भी था कि कई युवक आत्मकल्याण और परोपकारके भावसे गृहस्थाश्रममें आते ही

१-अभ्र० पृ० २३१। २-उपु० पृ० ७२०-७३५। ३-मनि० भा० १ पृ० ५२-५३। ४-अभ्र० पृ० २२६-२२७।

अजैन तपस्वीको जैनधर्मका उपदेश देकर जैनी बनाया था। इसी तरह उन्होंने एक अन्य गरीब शूद्र वर्णके मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी बनाकर उसे अपने आभूषण आदि दिये थे।[1]

गृहस्थ धर्मका पालन करनेका अधिकार प्रत्येक प्राणीको था। श्रावक लोग नवदीक्षित जैनीके साथ प्रेममई व्यवहार करके वात्सल्यधर्मकी पूर्ति करते थे। उसके साथ जातीय व्यवहार स्थापित करते थे। जिनदत्त सेठने बौद्धधर्मी समुद्रदत्त सेठके जैन होजानेपर उसके साथ अपनी कन्या नीलीका विवाह किया था[2]। खानपानमें शुद्धिका ध्यान रक्खा जाता था, किन्तु यह बात न थी कि किसी इतर वर्णी पुरुषके यहांके शुद्ध भोजनको ग्रहण करनेसे किसीका धर्म चला जाता हो। राजा उपश्रेणिकने भील कन्यासे शुद्ध भोजन बनवाकर ग्रहण किया था। (आक० भा० २ पृ० २३) जैन मंदिरोंका द्वार प्रत्येक मनुष्यके लिये खुला रहता था। चम्पाके बुद्धदास और बुद्धसिंह जैन मंदिरके दर्शन करने गये थे और अंतमें वह जैनी होगये थे।[3] पशु तक भगवानका पूजन कर सक्ते थे। कुमारी कन्याको पत्नीवत् ग्रहण करके उसके साथ रहनेवाले पुरुषके यहां मुनिराजने आहार लिया था[4]। आजकल ऐसे व्यक्तियोंको 'दस्सा' कहकर धर्माराधन करनेसे रोक दिया जाता है; किंतु उस समय 'दस्सा' शब्दका नामतक नहीं सुनाई पड़ता था। किसी भी व्यक्तिके धर्मकार्योंमें बाधा डालना उस समय अधर्मका कार्य समझा जाता था। और न उस समय अग्नि पूजा, तर्पण आदिको धर्मका अंग

१–क्षत्रचूडामणि लम्ब ६ श्लो० ७–९ व लम्ब ७ श्लो० २३–३०।
२–आक० भा० २ पृ० २८। ३–सकौ० पृ० १०५। ४–उपु० पृ० ६४२।

उधर विबुध श्रीधरकी कथासे नरवाहन राजाका जैन सम्बंध प्रगट है; जिसके अनुसार दिगम्बर जैन सिद्धांत ग्रन्थोंके उद्धारक मुनि भूतबलि नामक आचार्य वही हुए थे।[1] नहपानका एक विरुद 'भट्टारक' था[2] और यह शब्द जैनोंमें रूढ़ है। तथापि नहपानके उत्तराधिकारियोंमें क्षत्रप रुद्रसिंहका जैनधर्मानुयायी होना प्रगट है।[3] अतएव नरवाहनका नहपान होना और उन्हें जैनधर्मानुयायी मानना उचित प्रतीत होता है। इस अवस्थामें पूर्वोक्त पहले दो मतोंके अनुसार वीर निर्वाण शकाब्दसे ४६१ वर्ष अथवा ६०५ वर्ष ५ मास[4] पूर्व मानना ठीक प्रमाणित नहीं होता; क्योंकि जैन शास्त्रोंका शकराजा शक संवतका प्रवर्तक नहीं था, वह नहपान था।

निर्वाणकाल ई० पू० ४६८ नहीं होसक्ता।

तीसरा मत प्रो० जॉर्ल चारपेन्टियरका है, जिसका स्थापन उन्होंने 'इन्डियन एन्टीक्वेरी' भा० ४३ में किया है। उनके मतसे वीर-निर्वाण ई० पू० ४६८में हुआ था। उनने अपने इस मतकी पुष्टिमें पहले ही दिगम्बर और श्वेताम्बरोंके उस मतके निरापद होनेमें शङ्का की है, जिसके अनुसार सन् ५२७ ई० पूर्व वीरनिर्वाण माना जाता है। किन्तु इसमें जो वह दिगम्बरोंके अनुसार विक्रमसे ६०५ वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण बतलाते हैं, वह गलत है। किसी भी प्राचीन दिगम्बरग्रंथमें विक्रमसे ६०५ वर्ष पहले वीर निर्वाण होना नहीं

१-सिद्धान्तसारादि संग्रह, पृ० ३१६-३१८। २-राइ०, पृ० १०३। ३-ईऐ०, भा० २० पृ० ३६३। ४-त्रिलोकसार गा० ८५०-त्रिलोकसारके टीकाकार एवं उनके बादके लोगोंको शकराजासे मतलब विक्रमादित्यसे भ्रमवश था। असलमें वह नहपानका द्योतक है।

लिखा है; बल्कि विक्रमके जन्मसे ४७० वर्ष पहले महावीरका मोक्षगमन बताया गया है। शायद प्रो० सा० को यह भ्रम, उपरान्तके कतिपय जैन लेखकोंके अनुरूप, 'त्रिलोकसार'की ८५०वीं गाथाकी निम्न टीकासे होगया है; जिसमें शक राजाको 'विक्रमाङ्क' कहा है। "श्री वीरनाथनिवृते सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि पंचमासयुतेन गत्वा पश्चात् विक्रमाङ्कशकराजो जायते।" यहांपर विक्रमाङ्क शक राजाका विशेषण है। वह विक्रमादित्य राजाका खास नामसूचक नहीं है। इस कारण त्रिलोकसारके मतानुसार विक्रमसे ६०५ वर्ष ५ मास पहले वीर निर्वाण नहीं माना जासक्ता और वह शकाब्दसे भी इतने पहले हुआ नही स्वीकार किया जासक्ता; यह पहले ही लिखा जाचुका है। श्वेताम्बरोंके ग्रन्थ 'विचारश्रेणि'की विक्रमसे ४७० वर्षपूर्व वीर निर्वाण हुआ प्रगट करनेवाली गाथाओंका समर्थन उससे प्राचीनग्रंथ 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' से होता ही है और उधर बौद्ध सं० ई० पूर्व ५४३ से प्रारम्भ हुआ खारवेलके शिलालेखसे प्रमाणित है।[1] इसलिये वह ई० पू० ४७७ में नहीं माना जासक्ता। तथापि उसके साथ वीर निर्वाण संवत् ई० पू० ४६८ से मानना भी बाधित है; क्योंकि यह बात बौद्धशास्त्रोंसे स्पष्ट है कि म० बुद्धके जीवनकालमें ही भ० महावीरका निर्वाण होगया था।[2] उक्त प्रो० सा० इस असम्बद्धताको स्वय स्वीकार करते है। मि० काशीप्रसाद जायसवालने प्रो० सा० के इस मतका निरसन अच्छी तरह कर दिया है।[3] अतएव इस मतको मान्यता देनेमें भी हम असमर्थ हैं।

१-जबिओसो०, भा० १ पृ० ९९-१०५। २-मज्झिम० २।२४३ व दीनि० भा० ३ पृ० १। ३-इंऐ०, भा० ४९ पृ० ४३...।

विक्रमाब्दसे ५५० पूर्व भी निर्वाणकाल नहीं होसक्ता।

चौथा मत श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीका है और उसके अनुसार विक्रमाब्दसे ५५० वर्ष पहले वीर प्रभू मोक्ष गये प्रगट होते हैं।[1] इस मतका आधार श्री देवसेनाचार्य और श्री अमितगति आचार्यका उल्लेख है; जिनमें समयको निर्दिष्ट करते हुए 'विक्रमनृपकी मृत्युसे' ऐसा उल्लेख किया गया है। होसक्ता है कि इन आचार्योंको विक्रमसंवत्‌को उनकी मृत्युसे चला माननेमें कोई गलती हुई हो, क्योंकि विक्रमकी मृत्युके बाद प्रजा द्वारा इस संवत्‌का चलाया जाना कुछ जीको नहीं लगता। 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें इस मतका उल्लेख नहीं मिलता है। यदि इस मतको मान्यता दीजाय तो सम्राट् अजातशत्रुके राज्यकालमें भगवान महावीरका निर्वाण हुआ प्रगट नहीं होता और यह बाधा पूर्वोक्त तीन मतोंके सम्बन्धमें भी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों एवं बौद्धोंके शास्त्रोंसे यह बिल्कुल स्पष्ट ही है कि महावीरजीके निर्वाण समय अजातशत्रुका राज्य था।[2] उसके राज्यके अंतिम भागमें यह घटना घटित हुई थी। अजातशत्रुका राज्यकाल सन् ५५२ से ५१८ ई० पू० अथवा सन् ५५४ से ५२७ ई० पू० प्रगट है।[3] विक्रमाब्दसे ५५० वर्ष पूर्व भगवानका मोक्षलाभ माननेसे वह सम्राट् श्रेणिकके राज्यकालमें हुआ घटित होता है और यह प्रत्यक्ष बाधित है। अतः इस मतको स्वीकार कर लेना भी कठिन है।

१-दर्शनसार पृ० ३६-३७। २-जविओसो०, भा० १ पृ० ९९-११५ व उपु०। ३-जविओसो०, भा० १ पृ० ९९-११५ व अहिइं०, पृ० ३४-३९।

शकाब्दसे ७४१ वर्ष पूर्व भी भ्रांतमय है।

पांचवें मतके अनुसार शकाब्दसे ७४१ वर्ष पहले वीर भगवानका निर्वाण हुआ प्रगट होता है। उस मतका प्रतिपादन दक्षिण भारतके १८ वीं शताब्दिके शिलालेखोंमें हुआ है। जैसे दीपनगुड़ीके मंदिरवाले बड़े शिलालेखमें इसका उल्लेख यूं है,[1] "वर्द्धमानमोक्षगताब्दे अष्टत्रिंशदधिपंचशतोत्तरद्विसहस्रपरिगते शालिवाहनशककाले सप्तनवतिसप्तशतोत्तरसहस्रवर्षसमिते भवनाम सवत्सरे" इसमें शाका ११९७में वीर सं० २५१८ होना लिखा है। वर्तमान प्रचलित सं०से इसमें १३७ वर्षका अन्तर है। इस अन्तरका कारण त्रिलोकसारके ८५०वें नं०की गाथाकी टीका है, जैसे कि हम ऊपर बता चुके हैं। दक्षिण भारतके दिगम्बर जैन इतिहास ग्रन्थ 'राजा वलीकथे' से भी इसका समर्थन होता है। उसमें लिखा है कि 'महावीरजी मुक्त हुये तब कलियुगके २४३८ वर्ष बीते थे और विक्रमसे ६०५ वर्ष पूर्व वह मुक्त हुये थे।'[2] उपरोक्त टीकाके कथनसे भ्रममें पड़कर ऐसा उल्लेख किया गया है और इस भ्रमात्मक मतको भला कैसे स्वीकार किया जासक्ता है?

अन्तिम मत मान्य है।

अंतिम मत है कि विक्रम जन्मसे ४७० वर्ष पहले महावीरस्वामीका निर्वाण हुआ था। और इस मतके अनुसार ही आजकल जैनोंमें वीरनिर्वाण संवत प्रचलित है। यह संवत् ताजा ही चला हुआ नहीं है बल्कि प्राचीन साहित्यमें भी इसका उल्लेख मिलता है।[3] किन्तु इसकी गणनामें पहलेसे

१–मप्रैप्राजैस्मा०, पृ० ९८–९९। २–जैनमित्र, वर्ष ५ अंक ११ पृ० ११–१२। ३–डाकाके लिखे हुएके गुटकेमें इसका उल्लेख है।

ही भूल हुई है। उसको देखनेके लिये यहांपर उन प्रमाणोंको उपस्थित करना उचित है, जिनके आधारसे यह गणना हुई है:—

(१) सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।
अठवरस सोडसवासेहि भम्मिए देसे ॥ १८ ॥
नन्दिसंघ पट्टावली (जैसिभा०, कि० ४ पृ० ७५)

(२) सत्तरि चदुसदजुत्तो तिणकाले विक्कमो हवइ जम्मो।
अठवरस वाललीला, सोडसवासेहि भम्मये देसे ॥
रसपण वासा रज्जो कुणंति मिच्छोपदेश संजुत्तो।
चालीस वरस जिनवर धम्मे पालेय सुरपयं लहियं ॥
॥ विक्रम प्रबंध ॥

(३) सरस्वती गच्छकी पट्टावलीकी भूमिकामें स्पष्टरूपसे वीर निर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म होना लिखा है; यथा:—"बहुरि श्री वीरस्वामीकूं मुक्ति गये पीछें च्यारसौ सत्तर ४७० वर्ष गये पीछे श्रीमन्महाराज विक्रम राजाका जन्म भया।"

(४) जं रयणि कालगओ अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणि अवंति वई अभिसित्तो पालवो राया ॥
सट्ठी पालग रन्नो पण पण्णसयंतु होई नंदाणं।
अट्ठसयं मुरियाणं तीसच्चिअ पुस्समित्तस्स ॥
वलमित्त-भानुमित्ता सट्ठी वरिसाणि चत्तं नरवाहणो।
तह गद्दभिल्ल रन्नो तेरसवरिसा सगस्स चउ ॥
—तीर्थोद्धार प्रकीर्ण।

(५) वसुनंदि श्रावकाचारमें विक्रम शकसे ४८८ वर्ष पूर्व महावीर निर्वाण होना लिखा है। (देखो जैनमित्र, वर्ष ९ अंक ११ पृ० ११-१२)।

उपरोक्त सबही उल्लेखोंमें प्रायः भगवान महावीरसे ४७० वर्ष बाद विक्रमराजाका जन्म होना लिखा है और वर्तमान विक्रम संवत उनके राज्यकालसे चला हुआ मिलता है। यही कारण है कि वसुनंदि श्रावकाचारमें विक्रमसंवतसे ४८८ वर्षपूर्व वीरनिर्वाण हुआ निर्दिष्ट किया गया है, क्योंकि विक्रमके जन्मसे राज्याभिषेकको कालान्तर १८ वर्षका माना जाता है। इस अवस्थामें प्रचलित वीरनिर्वाण संवत्का संशोधन होना आवश्यक प्रतीत होता है। शायद उपरोक्त प्रमाणोंमें नं० ४ पर आपत्ति की जाय, जिसमें वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद शकराजाका राज्यान्त होना लिखा है। किन्तु यह बात ठीक नहीं है। यहांपर शकराजासे भाव शकारि-राजा विक्रमादित्यसे प्रगट होता है। डॉ० जैकोबी भी यही बात प्रगट करते हैं।[२] यदि ऐसा न माना जाय और शकराजासे भाव शक संवत प्रवर्तकके लिये जांय, तो उक्त गणनाके अनुसार चंद्रगुप्त मौर्यका अभिषेक काल ई० पूर्व १७७ वर्ष आता है और यह प्रत्यक्ष बाधित है। साथ ही उपरोक्त गाथाओंका गणनाक्रम आपत्तिजनक है, जैसे हमने अन्यत्र प्रगट किया है।[३] मालूम होता है कि विक्रमसे ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण बतलानेके लिए श्वेतांबराचार्योंने अपने मनोनुकूल उक्त गाथाओंका निरूपण कर दिया है। इस दशामें यह नहीं कहा जासक्ता कि उनको विक्रमके जन्म राज्य अथवा मृत्युसे ४७० वर्ष पूर्व वीर निर्वाण मान्य था। किन्तु अवशेष मतोंके समक्ष विक्रमके जन्मसे ४७० वर्ष पूर्व वीरनिर्वाण हुआ मानना ठीक है।

१-मदनकोष व भाप्राए०। २-जैसा सं०। ३-वीर, वर्ष ६५

इस गणनाके अनुसार अर्थात् विक्रमके जन्मसे ४७० वर्ष निर्वाणकाल ई० पू० पूर्व (५४५ ई० पू०) वीर निर्वाण मान- ५४५ मे था। जैसे, उसका अजातशत्रुके राज्य कालमें ही होना ठीक बैठता है और म० बुद्धका तब जीवित होना भी प्रगट है। अतः यह गणना तथ्यपूर्ण प्रगट होती है। शायद यहांपर यह आपत्ति की जाय कि चूंकि अजातशत्रुका राज्यकालका अंतिम वर्ष ई० पूर्व ५२७ है और म० बुद्धकी देहात तिथिका शुद्धरूप ई० पू० ४८२ विद्वानोंने प्रगट किया है; इसलिये वीर निर्वाण कोई ई० पूर्व ५२७ वर्षमें हुआ मानना ठीक है। किन्तु पहिले तो यह आपत्ति उपरोक्त शास्त्रलेखोंसे बाधित है। दूसरे अजातशत्रु वीर निर्वाणके कई वर्ष उपरांत तक जीवित रहा था, यह बात जैन एवं बौद्ध ग्रन्थोंसे प्रगट है।[1] इसलिये उनके अंतिम राज्य-वर्ष ई० पूर्व ५२७ में वीर निर्वाण होना ठीक नहीं जंचता। साथ ही यदि म० बुद्धकी निधन तिथि ४८० वर्ष ई० पू० थोड़ी देरके लिये मान भी ली जाय तो भगवान महावीरके उपरांत इतने लम्बे समय तक उनका जीवित रहना प्रगट नहीं होता। अन्यत्र हमने भगवान महावीर और म० बुद्धकी अंतिम तिथियोंमें केवल दो वर्षोंका अन्तर होना प्रमाणित किया है।[2] डॉ० हार्णले सा० इस अन्तरको अधिकसे अधिक पांच वर्ष बताते हैं;[3] परन्तु म० बुद्ध और म० महावीरके जीवन सम्बंधको देखते हुये, यह अन्तर कुछ अधिक प्रतीत होता है। म० महावीरके जीवनमें केवलज्ञान

१–जयिओसो०, भा० १ पृ० ९९–११५ व उपु०। २–वीर, वर्ष ६। ३–आजीविक–इरिइ०।

प्राप्त करनेकी घटना मुख्य थी, इस हमारी गणनाके अनुसार उस समय म० बुद्धकी अवस्था ४८ वर्षकी प्रगट होती है और इसका समर्थन उस कारणसे भी होता है, जिसकी वजहसे म० बुद्धके ६० से ७० वर्षके मध्यवर्ती जीवन घटनाओंका उल्लेख ही नहींके बराबर मिलता है।

बात यह है कि भगवान महावीरके सर्वज्ञ होने और धर्म-प्रचार प्रारम्भ करनेके पहलेसे ही म० बुद्ध अपने मध्यमार्गका प्रचार करने लगे थे, जैसे कि बौद्ध ग्रंथोसे भी प्रगट है।[1] अतएव दो वर्षके भीतर २ भगवान महावीरके वस्तु स्वरूप उपदेशका दिगन्त-व्यापी होना प्राकृत सुसंगत है। और भगवान महावीरके प्रभावके समक्ष उनका महत्व क्षीण होजाय तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह बात हम पहले ही प्रगट कर चुके हैं और इसका समर्थन स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंसे होता है।[2] अतएव उपरोक्त गणना एवं म० महावीर और म० बुद्धके परस्पर जीवन सम्बन्धका ध्यान रखते हुये म० बुद्धकी निधन-तिथि ई० पूर्व ४८२ या ४७७ स्वीकार नहीं की जासक्ती! बल्कि हमारी गणनासे प्रगट यह है कि म० महावीरसे छै वर्ष पहले म० बुद्धका जन्म हुआ था और उनके निर्वाणसे दो वर्ष बाद म० बुद्धकी जीवनलीला समाप्त हुई थी। बेशक बौद्ध शास्त्रोंमें म० बुद्धको उस समयके मत-प्रवर्तकोंमें सर्वलघु लिखा है; किन्तु उनका यह कथन निर्बाध नहीं है, क्योंकि उन्हींके एक अन्य शास्त्रोंमें म० बुद्ध इस बातका कोई स्पष्ट उत्तर देते नहीं

१-मनि० मा० १ पृ० २२५, संनि० मा० ११ पृ० ६६ व "वीर" वर्ष ६। २-भमबु० पृ० १०३-११०।

मिलते कि वे सर्वलघु हैं।[1] इससे यह ठीक जंचता है कि आयुमें म० महावीरसे म० बुद्ध अवश्य बड़े थे; परन्तु एक मतप्रवर्तककी भांति वह सर्वलघु थे, क्योंकि अन्य सब मत म० बुद्धसे पहलेके थे। इसप्रकार भ० महावीरका निर्वाण म० बुद्धके शरीरान्तसे दो वर्ष पहले मानना ठीक है और चूंकि बौद्धोंमें म० बुद्धका परिनिव्वान ई० पूर्व ५४३ वर्षमें माना जाता है, इसलिये भ० महावीरका निर्वाण ई० पूर्व ५४५में मानना आवश्यक और उचित है। जैसे पहिले भी यही अन्यथा प्रगट किया जाचुका है।

दि० जैन शास्त्रोंसे उक्त मतका समर्थन होता है।

दिगम्बर जैनशास्त्रोंके कथनसे भी भ० महावीरकी जीवन घटनाओंका उक्त प्रकार होना प्रमाणित है। यह लिखा जाचुका है कि श्रेणिक विम्वसारकी मृत्यु भ० महावीरके जीवनमें ही होगई थी और उनके बाद कुणिक अजातशत्रु विधर्मी होगया था; जिसे भ० महावीरके निर्वाणोपरान्त श्री इन्द्रभूति गौतमने जैनधर्मानुयायी बनाया था। इतिहाससे श्रेणिकका मृत्युकाल ई० पू० ५५२ प्रकट है। तथापि सं० १८२७की रची हुई 'श्रेणिकचरित्र' की भाषा वचनिकामें है कि:—

" श्रेणिक नीति सम्भालकर, करे राज अविकार।
वारह वर्ष जु बौद्धमत, रहा कर्मवश धार ॥५२॥
वारह वर्ष तने चित धरो, नन्दग्राम यह मारग करो।
तहं थी सेठि साथि चालियो, तब वेणक नगर आयियो ॥५३॥
नन्दश्री परणी सुकुमाल, वर्ष दूसरे रह सुचाल।
सात वर्ष भ्रमण धर रहे, पाछे आप राजसंग्रहे ॥५४॥

1–सुत्तनिपात (S. B. E, X) पृ० ८७ व भमबु० पृ० ११०।

नन्दश्रीने विसरी राय, तीन वर्ष जु पिता घर थाय।
आठ वर्षनो अभयकुमार, राजगृही आयो चितधार ॥५५॥
चार वर्षमे न्याय जु किया, बारह वर्षतणां युव भया।
श्रेणिक वर्ष छवीस मंझार, महावीर केवलपद धार ॥५६॥
अधिकार १५।'

इससे प्रकट है कि श्रेणिकको १२ वर्षकी उम्रमें देशनिकाला हुआ और रास्तेमें वह बौद्ध हुये। दो वर्ष तक नन्दश्रीके यहां रहे। बादमें ७ वर्ष उनने भ्रमणमें बिताये और २२ वर्षकी उम्रमें उन्हें राज्य मिला। तथापि उनकी २६ वर्षकी अवस्थामें भगवान महावीरको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। इससे प्रत्यक्ष है कि भ० महावीरके सर्वज्ञ होने और धर्मप्रचार आरम्भ करनेके पहले ही म० बुद्ध द्वारा बौद्धधर्मका प्रचार होगया था। यही कारण है कि देशसे निर्वासित होनेपर श्रेणिक बौद्ध होसके थे। इस दशामें जैन शास्त्रानुसार भी हमारी उपरोक्त जीवन-संबंध व्याख्या ठीक प्रगट होती है। साथ वीर निर्वाणकाल ई० पूर्व ५४५ माननेसे भ०का केवलज्ञान प्राप्ति समय ई० पू० ५७५ ठहरता है। इस समय श्रेणिककी अवस्था २६ वर्षकी थी अर्थात् श्रेणिकका जन्म ई० पू० ५८० में प्रगट होता है। राज्यारोहण कालसे २८ वर्ष उपरान्त राज्यसे अलग होकर उनकी मृत्यु हुई माननेपर ई० पू० ५५२ उनका मरणकाल सिद्ध होता है। इतिहाससे इस तिथिका ठीक सामञ्जस्य बैठता है। अतएव भगवान महावीरका निर्वाणकाल ई० पू० ५४५ मानना उचित है। वर्तमान प्रचलित वीरनिर्वाण संवत्का शुद्ध रूप २४७० होना उचित है!

(६)

नन्द-वंश।

(ई० पूर्व ४५९-३२६)

शिशुनागवंशके अंतिम दो राजाओं—नन्दवर्द्धन और महानन्दिका उल्लेख पहिले किया जाचुका है; किन्तु इनके नामके साथ 'नन्द' शब्द होनेके कारण, यह नन्द-वंशके राजा अनुमान किये जाते है। नंदवंशमें कुल नौ राजा अनुमान किये जाते है; किन्तु मि० जायसवाल 'नव—नन्द' का अर्थ 'नवीन-नन्द' करते हैं।[1] इस प्रकार नन्दवर्द्धन और महानंदि तथा महादेवनन्द व नन्द चतुर्थ प्राचीन नंदराजा ठहरते है। क्षेमेन्द्रके 'पूर्वनन्दाः' उल्लेखसे भी इनका प्राचीन नन्द होना सिद्ध है। नवीन नंद राजाओंमें कुल दोका पता चलता है। इस प्रकार कुल छै राजा नंदवंशमें हुये प्रगट होते है। कवि चन्दबरदाई (१२ वीं श० ई०) ने 'नव' का अर्थ नौ किया था, किन्तु वह भ्रम मात्र है।[2] हिन्दूपुराणोंके अनुसार नंदवंशने १०० वर्ष राज्य किया था;[3] किन्तु जैनग्रन्थोंमें उनका राज्यकाल १५५ वर्ष लिखा मिलता है।[4]

नव-नन्द।

१—जविओसो, भा० १ पृ ८७-सिकन्दर महानको वृपल नन्द सिंहासन पर मिला था (३२६ ई० पू०) और चन्द्रगुप्तने दिसम्बर ई० पू० ३२६ में अंतिम नन्दको परास्त किया था। इस कारण मि० जायसवाल एक महीनेमें आठ राजाओंका होना उचित नहीं समझते। २—अहिइ पृ० ४५। ३—जविओसो, भा० १ पृ० ८९...व भाप्रारा० भा० २ पृ० ४३। ४—हरि० भूमिका पृ० १२ व त्रिलोकप्रज्ञप्ति गाथा ९६—(पालकरज्ज सट्ठि इगिसय पणवण्ण विजयवसंभवा।) जैन ग्रंथोंमें इस वंशका नाम 'विजयवंश' लिखा है।

यूनानी सभ्यताको ग्रहण नहीं किया था। सिकन्दरका भारत-आक्रमण एक तेज आंधी थी; जो चटसे भारतके उत्तर पश्चिमीय देशसे होती हुई निकल गई। उससे भारतका विशेष अहित भी नहीं हुआ था। यही कारण है कि भारतवासी सिकन्दरको शीघ्र ही भूल गये थे। किसी भी ब्राह्मण, जैन या बौद्धग्रंथमें इस आक्रमणका वर्णन नहीं मिलता है। किंतु इस आक्रमणका फल इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इसके द्वारा संसारकी दो सभ्य और प्राचीन जातियोंका सम्पर्क हुआ था। यूनानियोंने भारतवर्षके विद्वानोंसे बहुतसी बातें सीखीं थीं और यहांके तत्त्वज्ञानका यूनानी दार्शनिकोंके विचारोंपर गहरा प्रभाव पड़ा था। सिकन्दर और उसके साथियोंका विशेष संसर्ग दिगम्बर जैन मुनियोंसे हुआ था। परिणामतः यूनानियोंमें अनेक विद्वान् "अहिंसा परमो धर्मः" सिद्धांत पर जोर देनेको तुल पड़े थे।[१] इन लोगोंने जो भारत एवं जैन मुनियों (Gymnosophists) के सम्बन्धमें जो बातें लिखी हैं; उनका सामान्य दिग्दर्शन कर लेना समुचित है।

भारत-वर्णन।

भारतवर्षके विषयमें यूनानियोंने बहुत कुछ लिखा है, मगर खास जानने योग्य बातें यह हैं कि वह उस समय भारतकी जनसंख्या तमाम देशोंसे अधिक बताते हैं, जो अनेक संप्रदायोंमें विभक्त था और यहां विभिन्न भाषायें बोली जाती थीं।[२] एक संप्रदाय ऐसा भी है कि न उसके अनुयायी किसी जीवित प्राणीको

१-पैथागोरस ऐसा ही उपदेश देता था (देखो ऐइ० पृ० ६५) और पोरफेरियस (Porphyrious) ने मांस निषेध पर एक ग्रन्थ लिखा था। (ऐइ० पृ० १६९)। २-ऐइ० पृ० १।

यूनानियोंने इन नग्नसाधुओंमें मन्दनीस और कलोनस नामक

दिगम्बर जैन साधु मन्दनीस और कलोनस।

दो साधुओंकी बड़ी प्रशंसा की है। इनको उन्होंने ब्राह्मण लिखा है और इस अपेक्षा किन्हीं लेखकोंने उनका चरित्र वैदिक ब्राह्मणोंकी मान्यताओंके अनुकूल चित्रित किया है; किंतु उनको सबने नग्न बतलाया है।[1] तथापि कलोनसको जो केशलोंच आदि करते लिखा है, उससे स्पष्ट है कि ये साधु जैन श्रमण थे। एक यूनानी लेखकने कलोनसको ब्राह्मण पुरोहित न लिखकर 'श्रमण' बतलाया भी है।[2] अतः मालूम ऐसा होता है कि जन्मसे ये ब्राह्मण होते हुये भी जैन धर्मानुयायी थे। इनका मूल निवास तिरहूतमें था। सिकन्दर जब तक्षशिलामें पहुंचा तो उसने इन दिगम्बर साधुओंकी बड़ी तारीफ सुनी। उसे यह भी मालूम हुआ कि वह निमंत्रण स्वीकार नहीं करते। इसपर वह खुद तो उनसे मिलने नहीं गया; किंतु अपने एक अफसर ओनेसिक्रिटस (Onesikritos)को उनका हालचाल लेनेके लिये भेजा। तक्षशिलाके बाहर थोड़ी दूरपर उस अफसरको पन्द्रह दिगम्बर साधु असह्य धूपमें कठिन तपस्या करते मिले थे। कलोनस नामक साधुसे उसकी वार्तालाप हुई थी। यही साधु यूनान जानेके लिये सिकन्दरके साथ हो लिया था। मालूम होता है कि 'कलोनस' नाम संस्कृत शब्द 'कल्याण' का अपभ्रंश है।[5]

१–विशेषके लिये देखो वीर, वर्ष ६। २–ऐइ०, पृ० ७२। ३–ऐरि० भा० १ पृ० ७०। ४–ऐइ०, पृ० ६९। ५–यूनानी लेखक प्लूटार्कका कथन है कि यह मुनि आशीर्वादमें 'कल्याण' शब्दका प्रयोग करते थे। इस कारण कलॉनस कहलाते थे। इनका यथार्थ नाम 'स्फाइन्स' (Sphines) था। मेऐइ० पृ० १०६।

अतः इन साधुका शुद्ध नाम ठीक है, जो जैन साधुओंके नामके समान है।

मुनि कल्याणने इस विदेशीके प्रचण्ड लोभ और तृष्णाके वश हो घोर कष्ट सहते हुये वहां आया देखकर जरा उपहासभाव धारण किया और कहा कि पूर्वकालमें संसार सुखी था–यह देश अनाजसे भरपूर था। वहां दूध और अमृत आदिके झरने वहते थे, किन्तु मानव समाज विषयभोगोंके आधीन हो घमण्डी और उद्दण्ड होगया। विधिने यह सब सामग्री लुप्त करदी और मनुष्यके लिये परिश्रमपूर्वक जीवन विताना (A life of toil) नियत कर दिया। संसारमें पुनः संयम आदि सद्‌गुणोंकी वृद्धि हुई और अच्छी चीजोंकी बाहुल्यता भी होगई। किन्तु अब फिर मनुष्योंमें असन्तोष और उच्छृङ्खलता आने लगी है और वर्तमान अवस्थाका नष्ट होजाना भी आवश्यक है।[1] सचमुच इस वक्तव्य द्वारा मुनि कल्याणने भोगभूमि और कर्मभूमिके चौथे काल और फिर पंचमकालके प्रारंभका उल्लेख किया प्रतीत होता है।

उनने यूनानी अफसरसे यह भी कहा था कि 'तुम हमारे समान कपड़े उतारकर नग्न होजाओ और वहीं शिलापर आसन जमाकर हमारे उपदेशको श्रवण करो।'[2] वेचारा यूनानी अफसर इस प्रस्तावको सुनकर बड़े असमंजसमें पड़ गया था; किन्तु एक जैन मुनिके लिये यह सर्वथा उचित था कि वह संसारमें बुरी तरह फँसे हुये प्राणीका उद्धार करनेके भावसे उसे दिगम्बर मुनि होजा-

१–ऐइ०, पृ० ७० । २–ऐइ० पृ० ७० ।

नेकी शिक्षा दें। प्रायः प्रत्येक जैन मुनि अपने वक्तव्यके अन्तमें ऐसा ही उपदेश देते हैं और यदि कोई व्यक्ति मुनि न होसके तो उसे श्रावकके व्रत ग्रहण करनेका परामर्श देते हैं। मुनि कल्याण-ने भी यही किया था। किन्तु एक विदेशीके लिये इनमेंसे किसी भी प्रस्तावको स्वीकार कर लेना सहसा सुगम नहीं था। मुनि मन्दनीस, जो संभवतः संघाचार्य थे, यूनानी अफसरकी इस विकट उलझनमें सहायक बन गये। उन्होंने मुनि कल्याणको रोक दिया और यूनानी अफसरसे कहा कि 'सिकन्दर' की प्रशंसा योग्य है। वह विशद साम्राज्यका स्वामी है, परन्तु तो भी वह ज्ञान पानेकी लालसा रखता है। एक ऐसे रणवीरको उनने ज्ञानेच्छु रूपमें नहीं देखा! सचमुच ऐसे पुरुषोंसे बड़ा लाभ हो, कि जिनके हाथोंमें बल है, यदि वह संयमाचारका प्रचार मानव-समाजमें करें। और संतोषमई जीवन वितानेके लिये प्रत्येकको बाध्य करे।

महात्मा मन्दनीसने दुभाषियों द्वारा इस यूनानी अफसरसे वार्तालाप किया था। इसी कारण उन्हें भय था कि उनके भाव ठीक प्रकट न होसकें। किन्तु तो भी उनने जो उपदेश दिया था उसका निष्कर्ष यह था कि विषय सुख और शोकसे पीछा कैसे छूटे। उनने कहा कि शोक और शारीरिक श्रममें भिन्नता है। शोक मनुष्यका शत्रु है और श्रम उसका मित्र है। मनुष्य श्रम इसलिये करते हैं कि उनकी मानसिक शक्तियां उन्नत हों, जिससे कि वे श्रमका अन्त कर सकें और सबको अच्छा परामर्श देसकें। वे तक्षशिला वासियोंसे सिकन्दरका स्वागत मित्ररूपमें करनेके लिये

कहेंगे; क्योंकि अपनेसे अच्छा पुरुष यदि कोई चाहे तो उसे भलाई करना चाहिये।'[1]

इसके बाद उनने यूनानके तत्ववेत्ताओंमें जो सिद्धान्त प्रचलित थे उनकी बाबत पूछा और उत्तर सुनकर कहा कि 'अन्य विषयोंमें यूनानियोंकी मान्यताएं पुष्ट प्रतीत होती हैं, जैसे अहिंसा आदि, किन्तु वे प्रकृतिके स्थानपर प्रवृत्तिको सम्मान देनेमें एक बड़ी गलती करते हैं। यदि यह बात न होती तो वे उनकी तरह नग्न रहनेमें और संयमी जीवन बितानेमें संकोच न करते; क्योंकि वही सर्वोत्तम गृह है, जिसकी मरम्मतकी बहुत कम जरूरत पड़ती है। उनने यह भी कहा कि वे (दिगम्बर मुनि) प्राकृतवाद, ज्योतिष, वर्षा, दुष्काल, रोग आदिके सम्बन्धमें भी अन्वेषण करते हैं।[2] जब वे नगरमें जाते हैं तो चौराहे पर पहुंचकर सब तितर-बितर होजाते हैं।[3] यदि उन्हें कोई व्यक्ति अंगूर आदि फल लिये मिल जाता है, तो वह देता है उसे ग्रहण कर लेते हैं। उसके बदलेमें वह उसे कुछ नहीं देते।[4] प्रत्येक धनी गृहमें वह अन्तः-

१-ऐइं० पृ० ७०-७१ सन्तोषी और संयमी जीवन बितानेकी शिक्षा देना, दूसरोंके साथ भलाई करनेका उपदेश देना और प्रवृत्तिको प्रधानता देना, जैन मान्यताका द्योतक है। २-इस उल्लेखसे उस समयके मुनियोंका प्रत्येक विषयमें पूर्ण निष्णात होना सिद्ध है। ३-यहा आहार क्रियाका वर्णन किया गया है। नियत समयपर संघ आहारके लिये नगरमें जाता होगा और वहा चौराहेपर पहुंचकर सबका अलग २ प्रस्थान कर जाना ठीक ही है। ४-कैसे और कौनसा आहार वे ग्रहण करते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें महात्मा मन्दंनीसके यह वाक्य कहे प्रगट होते हैं। जैन साधुको एक व्यक्ति भक्तिपूर्वक जो भी शुद्ध निरामिष भोजन देता है, उसे ही वह

पुर तक विना रोकटोकके जासक्ते हैं। आचार्य मन्दनीसने सिकन्दरके लिये यह भी उपदेश दिया था कि वह इन सांसारिक सुखोंकी आशामें पड़कर चारों तरफ क्यों परिभ्रमण कर रहा है? उसके इस परिभ्रमणका कभी अन्त होनेवाला नहीं। वह इस पृथ्वीपर अपना कितना ही अधिकार जमाले, किन्तु मरती बार उसके शरीरके लिये साढेतीन हाथ जमीन ही बस होगी।'[1]

इन महात्माके मार्मिक उपदेश और जैन श्रमणोंकी विद्याका प्रभाव सिकन्दर पर वेढब पड़ा था। उसने अपने साथ एक साधुको भेजनेकी प्रार्थना संघनायकसे की थी; किन्तु संघनायकने यह बात अस्वीकार की थी। उन्होंने इन जैनाचार हीन विदेशियोंके साथ रहकर मुनिधर्मका पालन अक्षुण्ण रीतिसे होना अशक्य समझा था। यही कारण है कि उनने किसी भी साधुको यूनानियोंके साथ जानेकी आज्ञा नहीं दी। किन्तु इसपर भी मुनि कल्याण (कॅलॉनस) धर्मप्रचारकी अपनी उत्कट लगनको न रोक सके और वह सिकन्दरके साथ हो लिये थे। उनकी यह क्रिया संघनायकको पसंद न आई और मुनि कल्याणकको उनने तिरस्कार दृष्टिसे देखा था।

कलोनसका विदेशमें समाधिमरण। भारतसे लौटते हुये, जिससमय सिकन्दर पारस्यदेशमें पहुंचा; तो वहांके सुसा (Susa) नामक स्थानमें इन महात्मा कॅलॉनसको एक प्रकारकी व्याधि जो अपने देशमें कभी नहीं होती थी होगई।[2] इस समय

ग्रहण करते हैं। उसके बदलेमें वह उसे कुछ भी नहीं देते। भोजनके नियममें वे भक्तजनका कोई भी उपकार नहीं करते।

१-ऐइ० पृ० ७३। २-जैसि भा०, भा० १ कि० ४ पृ० ५।

वह तेहत्तर वर्षके वृद्ध थे। और फिर रुग्णदशामें उनके लिये जैनधर्मकी प्रथानुसार प्रवृत्ति करना और धर्मानुकूल इन्द्रियदमनकारी भोजनों द्वारा रोगी शरीरका निर्वाह करना असाध्य होगया था। इसलिये उन्होंने सल्लेखना व्रतको ग्रहण कर लेना उचित समझा'। यह व्रत उसी असाध्य अवस्थामें ग्रहण किया जाता है, जब कि व्यक्तिको अपना जीवन संकटापन्न दृष्टि पड़ता है। मुनि कल्याणकी शारीरिक स्थिति इसी प्रकारकी थी। उनने सिकन्दर पर अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया। पहिले तो सिकंदर राजी न हुआ; परंतु महात्माको आत्मविर्सन करने पर तुला देखकर उसने समुचित सामग्री प्रस्तुत करनेकी आज्ञा दे दी। पहिले एक काठकी कोठरी बनाई गई थी और उसमें वृक्षोंकी पत्तियां बिछा दीगई थीं। इसीकी छतपर एक चिता बनाई गई थी।[1] सिकन्दर उनके सम्मानार्थ अपनी सारी सेनाको सुसज्जित कर तैयार होगया। बीमारीके कारण महात्मा कॅलॉनस बड़े दुर्बल होगये थे। उनको लानेके लिये एक घोड़ा भेजा गया; किन्तु जीवदयाके प्रतिपालक वे मुनिराज उस घोड़े पर नहीं चढ़े और भारतीय ढंगसे पालकीमें बैठकर वहां आ गये। वह उस कोठड़ीमें उनकी व्यवस्थानुसार बन्द कर दिये गये थे। अन्तमें वह चितापर विराजमान हो गये। चितारोहण करती बार उनने जैन नियमानुसार सबसे-क्षमा प्रार्थनाकी भेंट कीं। तथा धार्मिक उपदेश देते हुये केशलोंच भी किया।[2]

१-ऐइ०, पृ० ७३। २-केशलोंच करना, जैन मुनियोंका खास नियम है। यूनानियोंने मुनि कल्याणके अंतिम समयका वर्णन एक निश्चित रूपमें नहीं दिया है। 'चितापर बैठकर समाधि लेना जैनदृष्टिसे ठीक नहीं है। सम्भवतः अपने शवको जलवानेकी नियतसे मुनि कल्याणने ऐसा किया हो'।

उससमय सिकन्दरको यह दृश्य मर्मभेदी प्रतीत हुआ; तो भी उसने अपनी भक्ति दिखानेके लिए अपने सभी रणवाद्य बजवाये और सभी सैनिकोंके साथ शोकसूचक शब्द किया तथा हाथियोंसे भी चिंघाड करवाई। सिकन्दर उनके निकट मिलनेके लिये भी आया; किंतु उन्होंने कहा कि " मैं अभी आपसे मुलाकात करना नही चाहता; अब शीघ्र ही आपसे मुझे भेंट होगी।" इस कथनका भावार्थ उस समय कोई भी न समझ सका; परन्तु कुछ समयके बाद जब सिकन्दर कालकवलित होनेके सम्मुख हुआ तो म० कलॉनसके इस भविष्यद्वक्तृत्व शक्तिकी याद सबको होआई।[1] उस चिताकी धधकती हुई विकराल ज्वालामें महात्मा कलोनसका शरीरान्त होगया था।[2] इन जैनमुनिने विदेशियोंके हृदयोंपर कितना गहरा प्रभाव जमा लिया था, यह प्रकट है। सचमुच यदि वह यूनान पहुंच जाते तो वहांपर एकबार जैन सिद्धांतोंकी शीतल और विमल जान्हवी बहा देते !

१–म० कलॉनसके भविष्यद्वक्तृत्वके इस उदाहरणसे उनको अपने अंतिम समयका ज्ञान हुआ मानना कुछ अनुचित नहीं जंचता और वह चितापर ठीक उसी समय बैठे होंगे; जिस समय उनके प्राण पखेरु इस नश्वर शरीरको छोडने लगे होंगे। २–जैसि भा०, भा० १ कि० ४ पृ० ७–८।

(११)

श्रुतकेवली भद्रबाहुजी और अन्य आचार्य।

(ई० पू० ४७३-३८३)

श्री भद्रबाहुजीका समय।

जम्बूस्वामी अंतिम केवली थे। इनके बाद केवलज्ञान-सूर्य इस उपदेशमें अस्त होगया था; परन्तु पांच मुनिराज श्रुतज्ञानके पारगामी विद्यमान रहे थे। यह नंदि, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु नामक थे।[१] नंदिके स्थानपर दूसरा नाम विष्णु भी मिलता है।[२] यह पांचों मुनिराज चौदह पूर्व और बारह अंगके ज्ञाता श्री जम्बूस्वामीके बाद सौ वर्षमें हुए बताये गये हैं और इस अपेक्षा अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी ई० पू० ३८३ अथवा ३६९ तक संघाधीश रहे प्रगट होते हैं। किन्तु अनेक शास्त्रों और शिलालेखोंसे यह भद्रबाहुस्वामी मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्तके समकालीन प्रगट होते हैं[३] और चन्द्रगुप्तका समय ई० पू० ३२६-३०२ माना जाता है।[४] अब यदि श्री भद्रबाहुस्वामीका अस्तित्व ई० पू० ३८३ या ३६९ के बाद न माना जाय तो वह चन्द्रगुप्त मौर्यके समकालीन नहीं होसक्ते हैं।

'उधर तिल्लोयपण्णत्ति' जैसे प्राचीन ग्रन्थोंसे प्रमाणित है कि भगवान महावीरजीके निर्वाण कालसे २१५ वर्ष (पालकवंश ६०

१-तिल्लोयपण्णत्ति गा० ७२-७४ । २-श्रुतावतार कथा पृ० १३ व अंगपण्णत्ति गा० ४३-४४। ३-जैसि भा०, भा० १ कि० १-४ व श्रवण बे० पृ० २५-४०। ४-जविओसो० भा० १ पृ० ११६।

वर्ष+नन्दवंश १५५) बाद मौर्यवंशका अभ्युदय हुआ था। श्वेतांबर पट्टावलियोंसे सम्राट् चन्द्रगुप्तका वीर निर्वाणसे २१९ वर्ष बाद ई० पू० ३२६ या ३२५ के नवम्बर मासमें सिंहासनारूढ़ होना प्रगट है।[2] इस प्रकार चन्द्रगुप्तका राज्यारोहण काल जो ३२६ ई० पू० अन्यथा माना जाता है, वह जैन शास्त्रोंके अनुसार भी ठीक बैठता है। अतएव श्री भद्रबाहु स्वामीका अस्तित्व ई० पू० ३८३ या ३६५ के बाद मानना समुचित प्रतीत होता है। जैन शास्त्रोसे प्रकट है कि भद्रबाहुस्वामीके ही जीवनकालमें विशाखाचार्य नामक प्रथम दशपूर्वीका भी अस्तित्व रहा था। इस श्लोकमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदायके ग्रंथोंसे भद्रबाहु और चंद्रगुप्त प्रायः समसामयिक सिद्ध होते हैं।[4]

भद्रबाहुका चरित्र। पहिलेके चार श्रुतकेवलियोंके विषयमें दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें कुछ भी विशेष वर्णन नहीं मिलता है। हां, भद्रबाहुके विषयमें उनमें कई कथायें मिलती हैं। श्री हरिषेणके 'वृहत्कथाकोष' (सन् ९३१) में लिखा

१-तिप० गा० ५५-५६। २-इऐ० भा० ११ पृ० २५१। ३-दिगम्बर जैनग्रन्थोंसे प्रगट है कि भद्रबाहुस्वामी चन्द्रगुप्त सहित कटिपर्व नामक पर्वतपर रह गये थे और विशाखाचार्यके आधिपत्यमें जैनसंघ चोलदेशको चला गया था। उधर श्वेताम्बरोंकी भी मान्यता है कि भद्रबाहु अपने अन्तिम जीवनमें नेपालमें जाकर एकान्तवास करने लगे थे और स्थूलभद्र पट्टाधीश थे। (परि० पृ० ८७-९०) अतः निस्संदेह भद्रबाहुजीके जीवनकालमें ही उनके उत्तराधिकारी होना और उनका ई० पू० ३८३ के बादतक जीवित रहना उचित जंचता है। २९ वर्ष तक वे पट्टपर रहे प्रतीत होते हैं और फिर मुनिशासक या उपदेशक रूपमें शेष जीवन व्यतीत किया विदित होता है। ४-जैशिसं०, पृ० ६६।

और वह इनका गोत्र प्राचीन बतलाते हैं;[1] जो बिलकुल अशुद्धपूर्ण है और उसका स्वयं उनके ग्रन्थोंमें अन्यत्र कहीं पता नहीं चलता है।[2] वराहमिहिरका अस्तित्व ई० सन्‌के प्रारम्भसे प्रमाणित है।[3] इस अवस्थामें श्वेतांबरोंकी मान्यताके अनुसार भद्रबाहुका समय भी ज्यादासे ज्यादा ईस्वीके प्रारम्भमें ठहरता है; जो सर्वथा असंभव है। मालूम ऐसा होता है कि प्रथम भद्रबाहु और द्वितीय भद्रबाहु दोनोंको एक व्यक्ति मानकर द्वितीय भद्रबाहुकी जीवन घटनाओंको प्रथम भद्रबाहुके जीवनमें जा घुसेड़नेकी भारी भूल करते है। 'कल्पसूत्र' इन्हीं भद्रबाहुका रचा कहा जाता है। आवश्यकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आदिकी निरुक्तियां भी इन्हींकी लिखी मानी जातीं हैं; किंतु वह भी ई०के प्रारम्भमें हुए भद्रबाहुकी रचनायें प्रगट होती हैं, जैसे कि महामहोपाध्याय डा० सतीशचंद्र विद्याभूषण मानते है।[4] मालूम यह होता है कि श्वेताम्बरोंको या तो भद्रबाहु श्रुतकेवलीका विशेष परिचय ज्ञात नहीं था अथवा वह जानबूझकर उनका वर्णन नहीं करना चाहते हैं। क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहुने उस संघमें भाग

और फिर उपदेशक रूपमें रहे होंगे। श्वे० मान्यतासे उनकी आयु १२६ वर्ष प्रगट है। यदि उन्हें ४० वर्षकी उम्रमें आचार्य पद मिला मानें तो ६५ वर्षकी आयुमें वे आचार्य पदसे अलग हुये प्रगट होते हैं। शेष आयु उनने मुनिवत विताई थी और इस कालमें वे चंद्रगुप्तकी सेवाको पा सके :

१–जैसाधं० भा० १ वीर पं० पृ० ५ व परि० पृ० ५८। २–उसू० भूमिका पृ० १३। ३–डॉ० सतीशचंद्र विद्याभूषणने इस्वी प्रारम्भमें बराहमिहिरका अस्तीत्व माना है (जैहि० भा० ८ पृ० ५३२) किन्तु कर्न आदी छठी शताब्दीका मानते हैं। ४–हिस्ट्री आफ मेडिविल इण्डीयन लाजिक, जैहि० भा० ८ पृ० ५३२।

इसी प्रकार वृषलका साधारण अर्थ ग्रहण करना अनुचित है। फिर यह असंभव है कि चाणक्यके समान समझदार व्यक्ति, अपने उस कृपाभाजनके प्रति ऐसे क्षुद्र शब्दका प्रयोग कर उसे लज्जित करे, जो एक बड़े साम्राज्यका योग्य शासन था और जिसकी भ्रकुटि जरा टेढ़ी होनेपर किसीको अपने प्राण बचाना दूभर होजाता था। फिर चाणक्य तो स्वयं लिखता है कि दुर्बल राजाको भी न कुछ समझना भूल है।[1] असल बात यह है कि चाणक्य 'वृषल' शब्दका व्यवहार आदर रूपमें–मगधके राजाके अर्थमें–इसलिये करता था कि इससे उसके उस प्रयत्नका महत्व प्रगट होता था जो उसने चन्द्रगुप्तको मगधका राजा बनानेमें किया था और इसकी स्मृति उसके आनन्दका कारण होना प्राकृत ठीक है। मुद्राराक्षसके ब्राह्मण टीकाकारने साम्प्रदायिक द्वेषवश चन्द्रगुप्तको शूद्रजात लिख मारा है; वरन् स्वयं हिन्दू पुराणोंमें चंद्रगुप्तके शूद्र होनेका कोई पता नहीं चलता है।[2]

'विष्णुपुराण' में उनको नन्देन्दु अर्थात् 'नद–चंद्र' (गुप्त), भविष्यपुराणमें 'मौर्य–नंद' और बौद्धोंके 'दिव्यावदान्' में केवल 'नन्द' लिखा है।[3] इन उल्लेखोंसे चंद्रगुप्तका कुछ संबंध नंदवंशसे प्रगट होता है। कोई विद्वान् 'मुद्राराक्षस' से भी यह संबंध प्रगट होता लिखते हैं,[4] किन्तु इन उल्लेखोंसे भी चन्द्रगुप्तका शूद्राजात

१–'दुर्बलोऽपि राजानावमन्तव्यः नास्त्यग्ने दौर्बल्यम्।'

२–अघः पृ० ६ व हिन्दूव० परि० पृ० ७१...और राइ० भा० १ पृ० ६०–६१ माइ० पृ० ६२। ३–जबिओसो० भा० १ पृ० ११६ फुटनोट। ४–हिन्दूव०, भूमिका पृ० ११–१९ व अघ० पृ० ७।

होना सिद्ध नहीं है। जैन लेखक तो स्पष्ट रीतिसे चन्द्रगुप्तको क्षत्रिय कहते हैं।[1] हेमचन्द्राचार्यने 'मयूरपोषक' ग्रामके नेताकी पुत्रीको चन्द्रगुप्तकी माता लिखा है।[2] किंतु इससे भाव 'मोर पालनेवाले' के लगाना अन्याय है। प्रत्युत इस उल्लेखसे पुराणोंके उपरोक्त उल्लेखोंका स्पष्टीकरण हुआ दृष्टि पड़ता है। संभवतः नंद राजाकी एक रानी मयूरपोषक देशके नेताकी पुत्री थी और उसीसे चन्द्रगुप्तका जन्म हुआ था।[3] जब शूद्राजात महापद्मने नंद राज्यपर आधिपत्य जमा लिया तो चन्द्रगुप्त अपनी ननसालमें जाकर रहने लगा हो तो असंगत ही क्या है? वहींपर चाणक्यकी उससे भेट हुई होगी।

जैन शास्त्रोंमें एक मौर्याख्य देशका अस्तित्व महावीरस्वामीसे पहलेका मिलता है। वहांके एक क्षत्रिय पुत्र—मौर्यपुत्र भगवानके

१—जैसिभा० भा० १ कि० ४ पृ० १९; भाइ० पृ० ६२ व राइ० भाग १ पृ० ६०।

२—'मयूरपोषकग्रामे तस्मिंश्च चणिनन्दन.।
प्राविशत्कणभिक्षार्थं परिव्राजकवेषभृत् ॥ २३० ॥
मयूरपोषकमहत्तरस्य दुहितुस्तदा।
अभूदापन्नसत्त्वायाश्चन्द्रपानाय दोहद. ॥ २३१॥–८ ॥'

इत्यादि। श्री हेमचन्द्रके इस कथनसे चन्द्रगुप्तको 'मोरोंको पालनेवालेकी कन्याका पुत्र' लिखना ठीक नहीं है; जब कि वह ग्रामका नाम मयूर-पोषक लिख रहे हैं। मि० बरोदिया (हिलिजै० पृ० ४४) और उनके अनुसार मि० हैवेल (हिआइ० पृ० ६६) ने 'मयूरपोषक' का शब्दार्थ ही प्रगट किया है।

३—डॉ० विमलाचरण लॉ० नन्दराजाका विवाह पिप्पलिवनके मोरिय (मौर्य) क्षत्रियोंकी राजकुमारीसे हुआ समझते हैं। देखो क्षत्रीक्लैन्स० पृ० २०५।

गणधर भी थे।[1] उधर 'महावंश' नामक बौद्ध ग्रंथसे प्रगट ही है कि 'चन्द्रगुप्त हिमालय पर्वतके आसपासके एक देशका, जो पिप्पलिवनमें था और मोर पक्षियोंकी अधिकताके कारण मौर्य राज्य कहलाता था, एक क्षत्रिय राजकुमार था[2]।' हेमचन्द्राचार्यका मयूर-पोषक ग्राम, दिगम्बर जैनोंका मौर्याख्य देश और बौद्धोंके मोरिय (मौर्य) क्षत्रियोंका पिप्पलिवनवाला प्रदेश एक ही प्रतीत होते हैं और इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त इस देशकी अपेक्षा ही मौर्य कहलाता था। ऐसा ही मैकक्रिन्डलका लेख है।[3]

चन्द्रगुप्तका बाल्य-जीवन।

चन्द्रगुप्तका बाल्यजीवन मौर्याख्यदेशकी अपेक्षा अधिकतर मगधदेशमें व्यतीत हुआ था। तब मोरिय (मौर्य) क्षत्रियोंकी राजधानी पिप्पलीवन थी। इन लोगोंमें भी उस समय गणराज्य प्रणालीके ढंगपर राज्य-प्रबंध होता था। यही कारण प्रतीत होता है कि हेमचंद्राचार्यने मयूर-पोषक देशके एक नेताका उल्लेख किया है। उनके उसे वहांका राजा नहीं लिखा है। किन्तु महापद्म नन्दने इन्हें भी अपने आधीन बना लिया था और एक मौर्य क्षत्री उनका सेनापति भी रहा था, यद्यपि अन्तमें उन्होंने उसे और उसकी सन्तानको मरवा डाला था। महापद्मके आधीन रहते हुये मौर्य क्षत्री सुखी नहीं रहे थे। चन्द्रगुप्तके भी प्राण सदैव संकटमें रहते थे, क्योंकि नंद राजाको उससे स्वभावतः भय होना अनिवार्य था; किंतु चंद्रगुप्तकी विधवा माताने उनकी रक्षा बड़ी तत्परतासे[4] की

१-वृजैश० पृ० ७। २-महावंश-टीका (सिंहलीयावृत्ति) पृ० ११९...। ३-माइ० पृ० ६२। ४-जैसिभां० भा० १ कि० ४ पृ० २१।

थी।[1] फलतः जिससमय चंद्रगुप्त युवावस्थामें पदार्पण कर रहे थे, उससमय उनका समागम चाणक्यसे हुआ, जो नंदराजा द्वारा अपमानित होकर उससे अपना बदला चुकानेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर चुका था। चाणक्यके साथ रहकर चंद्रगुप्त शस्त्र-शास्त्रमें पूर्ण दक्ष होगया और वह देश-विदेशोंमें भटकता फिरा था, इससे उसका अनुभव भी खुब बढ़ा था। जो हो, इससे यह प्रकट है कि चन्द्रगुप्तका प्रारंभीक जीवन बड़ा ही शोचनीय तथा विपत्तिपूर्ण था।

राज-तिलक और राज्यवृद्धि। जिससमय चद्रगुप्त मगधके राज्य सिंहासनपर आरूढ़ हुये उस समय वह पच्चीस वर्षके एक युवक थे। उनकी इस युवावस्थाका वीरोचित और भारत हितका अनुपम कार्य यह था कि उन्होंने अपने देशको विदेशी यूनानियोंकी पराधीनतासे छुड़ा दिया। सचमुच चन्द्रगुप्तके ऐसे ही देशहित सम्बन्धी कार्य उसे भारतके राजनैतिक रंगमंचपर एक प्रतिष्ठित महावीर और संसारके सम्राटोंकी प्रथम श्रेणीका सम्राट् प्रगट करते हैं। 'योग्यता, व्यवस्था, वीरता और सैन्य संचालनमें चन्द्रगुप्त न केवल अपने समयमें अद्वितीय था, वरन् संसारके इतिहासमें बहुत थोड़े ऐसे शासक हुपे हैं, जिनको उसके बराबर कहा जासक्ता है।'[2] मगधके राज्य प्राप्त करनेके साथ ही नंद राजाकी विराट् सेना उसके आधीन हुई थी। चन्द्रगुप्तने उस विपुलवाहिनीकी वृद्धि की थी। उसकी सेनामें तीस हजार घुडसवार, नौ हजार हाथी, छै लाख पैदल और बहुसंख्यक रथ थे।[3] ऐसी दुर्जय

१-बौद्धोंके 'अर्थ कथाकोष' में भी यह उल्लेख है। जैसि भा० पूर्व पृ० २१। २-अमाइ०, भा० पृ० १४२। ३-अहिइं० पृ० १२४।

सेनाकी सहायतासे उसने समस्त उत्तर भारतके राजाओंको जीत लिया था। उसके सिंहासनारूढ़ होनेके पहले उत्तरी भारतमें ही छोटे २ बहुतसे राजा थे, जो आपसमें लड़ा करते थे। धीरे धीरे चन्द्रगुप्तने उन सबको अपने अधिकारमें कर लिया और उसके साम्राज्यका विस्तार बंगालकी खाडीसे अरब-समुद्र तक होगया। इस प्रकार "वह शृङ्खलाबद्ध ऐतिहासिक युगका पहला राजा है, जिसे भारत सम्राट् कह सकते हैं।"[१]

दक्षिण-विजय।

महीसूर प्रांतकी अर्वाचीन मान्यताओंसे प्रगट है कि उस प्रांतपर नंदवंशका भी अधिकार था।[२] यदि यह बात ठीक मानी जाय तो नंदवंशके उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त मौर्यका अधिकार भी इन देशोंमें होना युक्तिसंगत है। तामिल भाषाके प्राचीन साहित्यमें अनेकों उल्लेख हैं; जिनसे स्पष्ट है कि मौर्योंने दक्षिण भारतपर आक्रमण किया था और उसमें वे सफल हुये थे।[३] किन्तु इससे यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सक्ता कि दक्षिण भारतकी यह विजय चंद्रगुप्त मौर्य द्वारा ही हुई थी अथवा उसके पुत्र और उत्तराधिकारी बिन्दुसारने दक्षिण प्रदेश अपने आधीन किया था। परन्तु यह विदित है कि चन्द्रगुप्तका पौत्र अशोक जब सिंहासनपर बैठा, तब यह दक्षिण देश उसके साम्राज्यमें शामिल था। जैन मान्यताके अनुसार चन्द्रगुप्तका साम्राज्य दक्षिण भारत तक होना प्रमाणित है।[४]

१-भाइ० पृ० ६२। २-ऑहिइ० पृ० ७४। ३-श्रवण० पृ० ३८। ४-मैंमप्राजैस्मा० पृ० २०५ व जराएसो०; १९२८, पृ० १३५।

सिल्यूकस नाइके-टरसे युद्ध।

जिससमय चन्द्रगुप्त भारतमें उक्त प्रकार एक शक्तिशाली केन्द्रिक शासन स्थापित करनेमें संलग्न था, उसी समय पश्चिमीय मध्य ऐशियामें सिकंदर महान्का सिल्यूकस नाइकेटर नामक एक सेनापति अपना अधिकार जमानेका प्रयास कर रहा था। उसने बड़ी सफलतासे सिरिया, एशिया माइनर और पूर्वीय प्रदेशोंको हस्तगत कर लिया था। उसने भारतको भी फिरसे जीतना चाहा और ३०५ ई० पू० में सिन्धु नदी पार कर आया। चन्द्रगुप्तकी अजेय सेनाने उसका सामना किया। पहिली ही मुठभेड़में सिल्यूकसकी सेना पिछड़ गई और उसे दबकर संधि कर लेनी पड़ी। इस संधिके अनुसार सिंधु नदीके पश्चिमी सूबों—बिलोचिस्तान और अफगानिस्तानको चद्र-गुप्तने अपने राज्यमें मिला लिया। सिल्यूकस ५०० हाथी लेकर संतुष्ट होगया। उसने अपनी बेटी भी चन्द्रगुप्तको व्याह दी।[१]

इस विजयसे चद्रगुप्तका गौरव और मान विदेशोंमें बढ़ गया। सिल्यूकसका दूत उसके राजदरबारमें आकर रहने लगा और उसके सम्पर्कसे भारतका महत्त्वशाली परिचय और तात्विक ज्ञान विदे-शियोंको हुआ। पैर्हो (Pyrrho) नामक एक यूनानी तत्ववेत्ता जैन श्रमणोंसे शिक्षा ग्रहण करनेके लिये यहां चला आया और व्यापारकी भी खूब उन्नति हुई। चन्द्रगुप्तके इस साम्राज्य विस्तारके अपूर्व कार्य और फिर उसे व्यवस्थित भावसे एक सूत्रमें बांध रख-नेसे उसकी अदभुत तेजस्विता, तत्परता और बुद्धिमत्ताका परिचय मिलता है। साधारण अवस्थासे उठकर वह एक महान् सम्राट्

१–भाइ० पृ० ६२–६३। २–हिग्ली० पृ० ४२ व लाम० पृ० ३४।

होगया, यह उसके अदम्य पुरुषार्थ और कर्मठताका प्रमाणपत्र है।

शासन-प्रवन्ध।

सिल्यूकसकी ओरसे जो दूत मौर्य दरबारमें आया था, वह मेगास्थनीज नामसे विख्यात् था। वह कई वर्षोंतक चन्द्रगुप्तके दरबारमें रहा था और बड़ा विद्वान् था। उसने उससमयका पूरा वृतान्त लिखा है। वह चन्द्रगुप्तको योग्य और तेजस्वी शासक बतलाता है। उसके वृत्तांत एवं कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे चन्द्रगुप्तके शासन-प्रबन्ध और उस समयकी सामाजिक स्थितिका अच्छा पता चलता है। राज्यका शासन पंचायतों द्वारा होता था; यद्यपि प्रत्येक प्रान्त भिन्न २ गवर्नरोंके आधीन था। इन प्रांतिक अधिकारियोंको छे पंचायतों द्वारा राज्यप्रबन्ध करना पडता था। 'एक पंचायत प्रजाके जन्म-मरणका हिसाब रखती थी। दूसरी टैक्स यानी चुंगी वसूल करती थी। तीसरी दस्तकारीका प्रबंध करती थी। चौथी विदेशीय लोगोंकी देखभाल करती थी। पांचवीं व्यापारका प्रबंध करती थी। और छठी दस्तकारीकी चीजोंके विक्रयका प्रबंध करती थी। कुछ विदेशीय लोग भी पाटलिपुत्रमें रहते थे। उनकी सुविधाके लिये अलग नियम बना दिये गये थे।'[1]

राजधानी।

पाटलिपुत्र उस समय एक बड़ा समृद्धिशाली नगर था। और वह मौर्य सम्राट्की राजधानी थी। तब यह नगर सोन और गंगाके संगमपर ९ मीलकी लम्बाई और १½ मील चौड़ाईमें बसा था। इसप्रकार वह वर्तमान पटनाकी तरह लंबा, सकीर्ण और समातर-चतुर्भुजाकार था। उसके चारों ओर

१—भाइ० पृ० ६१।

एक लकड़ीकी दीवार थी। इसमें ६४ फाटक और ५७० मीनार थे। इसके बाहर २०० गज चौडी और १५ गज गहरी खाई थी, जो सोनके जलसे भरी रहती थी।[1] वर्तमान पटना नगरके नीचे यह प्राचीन पाटलिपुत्र छुपा पड़ा है। बांकीपुरके निकटमें खुदाई करनेसे चंद्रगुप्तके राजप्रासादका कुछ अंश मिला है। यह राजभवन भी लकड़ीका बना हुआ था, परंतु सजधज और सुंदरतामें किसी राजमहलसे कम न था। राज्यके शासन-प्रबन्धके समान ही नगरका प्रबंध एक म्युनिसिपल कमीशन द्वारा होता था। इसमें भी छै पंचायतें थीं और प्रत्येक पंचायतमें पांच सदस्य इनके द्वारा देश और नगरका सुचारु और आदर्श प्रबंध होता था।

शासन प्रबन्धकी विशेषतायें।

चन्द्रगुप्तका शासन प्रबन्ध आजकलके प्रजातंत्र राज्योंके लिये एक अनुकरणीय आदर्श था। आजकलकी म्युनिसिपिल कमेटियोंसे यदि उसकी तुलना की जाय, तो वह प्राचीन प्रबन्ध कई बातोंमें अच्छा मालूम देगा। चन्द्रगुप्तके इस व्यवस्थित शासनमें प्रत्येक मनुष्य और पशुतककी रक्षाका पूरा ध्यान रक्खा जाता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमे पशुओंके भोजन, गौओंके दुहने और दूध, मक्खन आदिकी स्वच्छताके सम्बंधमें नियम दिये हुये मिलते हैं। पशुओंको निर्दयता और चोरीसे बचानेके नियम सविस्तर दिये गये हैं।[2] एक जैन सम्राट्के लिये ऐसा दयालु और उदार प्रबंध करना सर्वथा उचित है। मनुष्योंकी रक्षाका भी पूरा प्रबंध था। व्यापारियोके लिये कई सड़कें बनवाई गईं थीं; जिनपर मुसाफिरोकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध था।

१-मेएइ० । २-लामाइ० पृ० १६७ ।

भारतकी सीमासे पाटलिपुत्रतक राजमार्ग बना हुआ था। यह मार्ग शायद पुष्कलावती (गान्धारकी राजधानी) से तक्षशिला होकर झेलम, व्यास, सतलज, जमनाको पार करता हुआ तथा हस्तिनापुर, कन्नौज और प्रयाग होता हुआ पाटलिपुत्र पहुंचता था। सड़कोंकी देखभालका विभाग अलग था।× दुर्भिक्षकी व्यवस्था उच्च न्यायालय करते थे। जो अन्न सरकारी भण्डारोंमें आता था उसका आधा भाग दुर्भिक्षके दिनोंके लिये सुरक्षित रक्खा जाता था और अकाल पड़नेपर इस भाण्डारमेंसे अन्न बांटा जाता था। अगली फसलके बीजके लिये भी यहींसे दिया जाता था।[1]

चन्द्रगुप्तके राज्यके अंतिम कालमें एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था। खेतोंकी सिंचाईका पूरा प्रबन्ध रक्खा जाता था; जिसके लिये एक विभाग अलग था।[2] चन्द्रगुप्तके काठियावाड़के शासक पुष्यगुप्तने गिरनार पर्वतके समीप 'सुदर्शन' नामक झील बनवाई थी।[3] छोटी बड़ी नहरों द्वारा सारे देशमे पानी पहुंचाया जाता था। नहरका महकमा आबपाशी–कर वसूल करता था। इसके अतिरिक्त किसानोंसे पैदावारका चौथाई भाग वसूल किया जाता था। आयात निर्यात आदि और भी कर प्रजापर लागू थे।

गुप्तचर विभाग। राज्यमें किसी प्रकारकी अनीति न होने पाये, इसके लिये चन्द्रगुप्तने एक गुप्तचर विभाग स्थापित किया था। नगरों और प्रांतोंकी समस्त घटनाओंपर दृष्टि रखना और सम्राट् अथवा अधिकारी वर्गको गुप्तरीतिसे सूचना

× भाप्रारा० भा० २ पृ० ७९। १–लाभाइ० पृ० १६७। २–भाइ० पृ० ६४। ३–जराएसो० सन् १८९१ पृ० ४७।

आधुनिक विद्वान भी मान्य ठहराते हैं।[1] भद्रबाहु श्रुतकेवलीसे चंद्रगुप्तने दीक्षा ग्रहण की थी और उनका दीक्षित नाम मुनि प्रभाचंद्र था। इन्होंने अपने गुरु भद्रबाहुके साथ दक्षिणको गमन किया था और श्रवणबेलगोलमें इनने समाधिपूर्वक स्वर्ग लाभ किया था।[2]

इस स्पष्ट और जोरदार मान्यताके समक्ष चंद्रगुप्तको जैन न मानकर शैव मानना, सत्यका गला घोंटना है। हिन्दू शास्त्रोंमें अवश्य उनके जैन साधु होनेका प्रगट उल्लेख नहीं है; परन्तु हिंदू शास्त्र उन्हें एक शूद्राजात लिखनेका दुस्साहस करते हैं; वह किस बातका द्योतक है? यदि चंद्रगुप्त जैन नहीं थे, तो उन्होंने एक क्षत्री राजाको अकारण वर्ण-शंकर क्यों लिखा? इस वर्णनमें सांप्रदायिक द्वेष साफ टपक रहा है; जैसे कि विद्वान् मानते हैं[3] और इस तरह भी चंद्रगुप्तका जैन होना प्रगट है। कोई विद्वान् उनके नृशंस दंड विधान आदिपर आपत्ति करते हैं और यह क्रिया एक जैन सम्राट्के लिये उचित नहीं समझते।[4] किन्तु उनका दण्डविधान कठिन होते हुये भी अनीति पूर्ण और अना-

आधीन एक हजार राजा हों। चन्द्रगुप्त मौर्य ऐसे ही प्रतापी राजा थे। शिलालेखीय साक्षी ई० इनके प्रारम्भिक कालकी है। (देखो० श्रवण० पृ० २५-४० व जैसिमा० भा० १)।

१-अहिइ० पृ० १५४; मैसूर एण्ड कुर्ग-राइस, भा० १: हिवि० भा० ७ पृ० १५६; इरिइ०-चन्द्रगुप्त; कैहिइ० भा० १ पृ० ४८४ और प्राइजै० पृ० २०-२५, हिआइ० पृ० ५९ अशोक और दी अर्ली फेथ आव अशोक पृ० २३ व जबिओसो भा० ३ ०। २-जैसिमा० भा० १ कि० २-३-४ व कैहिइ० भा० १ पृ० ४८५। ३-राइ० भा० १ पृ० ६१। ४-लाभाइ० पृ० १५३।

यद्यपि ई० पू० २७७ में आगया, परंतु उसका राज्याभिषेक इसके चार वर्ष बाद सन् २७३ ई० पू० में हुआ था।[1] इन चार वर्षों तक वह युवराजके रूपमें राज्य-शासन करता रहा था। इस अवधि तक राजतिलक न होनेका कारण कोई विद्वान् उसका बड़े भाईसे झगड़ा होना अनुमान करते हैं;[2] परंतु यह बात ठीक नहीं है।

मालूम ऐसा होता है कि उस समय अर्थात सन् २७७ ई० पू० में अशोककी अवस्था करीब २१–२२ वर्षकी थी और प्राचीन प्रथा यह थी कि जबतक राज्यका उत्तराधिकारी २५ वर्षकी अवस्थाका न होजाय तबतक उसका राजतिलक नहीं होसक्ता था; यद्यपि वह राज्यशासन करनेका अधिकारी होता था। इसी प्रथाके अनुरूप जैनसम्राट् खारवेलका भी राज्य अभिषेक कुछ वर्ष राज्य-शासन युवराजपदसे कर चुकने पर २५ वर्षकी अवस्थामें हुआ था।[3] अशोकके संबंधमें भी यही कारण उचित प्रतीत होता है।[4] जब वह २५ वर्षके होगये तब उनका अभिषेक सन् २७३ ई० पू० में हुआ। और उनका अद्भुत राज्य-शासन सन् २३६ ई० पू० तक कुशलता पूर्वक चला था।

अशोक तक्षशिला व उज्जनीका सूबेदार।

विन्दुसारके समयमें अशोक उत्तर पश्चिमीय सीमा प्रान्त और पश्चिमी भारतका सुवेदार रह चुका था। इन प्रदेशोंका उसने ऐसे अच्छे ढंगसे शासन-प्रबंध किया था कि इसके सुप्रबन्ध और योग्यताका सिक्का

१–कोई विद्वान विन्दुसारकी मृत्यु सन् २७३ ई० पू० और अशोकका राज्याभिषेक सन २६९ ई०पू० मानते है। (भाइ० पृ० ६७–६८) २–लाभाइ०, पृ० १७०। ३–जविओसो० भा० ३ पृ० ४३८। ४–जविओसो० भा० १ पृ० ११६।

जैन अहिंसा है जो हर हालतमें प्राणीवधकी विरोधी है और एक व्यक्तिको पूर्ण शाकाहारी बनाती है।

उस समय वैदिक मतावलंबियोंमें मांसभोजनका बहुप्रचार था और बौद्धलोग भी उससे परहेज नहीं रखते थे। म० बुद्धने कई वार मांसभोजन किया था और वह मांस खास उनके लिये ही लाया गया था।[1] अतएव अशोकका पूर्ण निरामिष भोजी होना ही उसको जैन बतलानेके लिए पर्याप्त है। इस अवस्थामें उसे जन्मसे ही जैनधर्मका श्रद्धानी मानना अनुचित नहीं है। जैन ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख है[2] और जैनोंकी यह भी मान्यता है कि श्रवणवेलगोलामें चन्द्रगिरिपर उसने अपने पितामहकी पवित्रस्मृतिमें चंद्रबस्ती आदि जैन मंदिर बनवाये थे।[3]

'राजावलीकथा'में उसका नाम भास्कर लिखा है और उसे अपने पितामह व भद्रबाहु स्वामीके समाधिस्थानकी वंदनाके लिये श्रवणबेलगोल आया बताया है। (जैशि सं०, भूमिका पृ० ६१) अपने उपरान्त जीवनमें मालूम पड़ता है कि अशोकने उदारवृत्ति ग्रहण करली थी और उसने अपनी स्वाधीन शिक्षाओंका प्रचार करना प्रारंभ किया था; जो मुख्यतः जैन धर्मके अनुसार थी। यही कारण प्रतीत होता है कि जैन ग्रंथोंमें उसके शेष जीवनका हाल नहीं है। जैन दृष्टिसे वह वैनयिक-रूपमें मिथ्यात्व ग्रसित हुआ कहा जासक्ता है; परन्तु उसकी शिक्षाओंमें जैनत्व कूट२ कर भरा हुआ मिलता है। उसने बौद्धों, ब्राह्मणों और आजीविकोंके साथ

1-भमबु० पृ० १७०। २-राजावलीकथा और परिशिष्ट पर्व (पृ० ८७) ३-हिवि० भा० ७ पृ० १५०।

जैनोंको भी भुलाया नहीं था, यह बात उसके शिलालेखोंसे स्पष्ट है।[1]

अजैन साक्षी। प्रो० कर्नके समान बौद्ध धर्मके प्रखर विद्वान् अशोकका जैन होना बहुत कुछ संभव मानते हैं[2] और मि० टॉमसने तो जोरोंके साथ उनको जैन धर्मानुयायी प्रगट किया है।[3] मि० राइस और प्राच्य विद्या महार्णव पं० नागेन्द्रनाथ वसु भी अशोकको एक समय जैन प्रगट करते हैं।[4] यह बात भी नहीं है कि केवल आधुनिक विद्वान ही अशोकको पहिले जैनधर्मका श्रद्धानी प्रगट करते हों; बल्कि आजसे बहुत पहिलेके भारतीय लेखक भी उनका जैनी होना सिद्ध करते हैं। 'राजतरिङ्गणी'में लिखा है कि अशोकने जिन शासनका उद्धार या प्रचार काश्मीरमें किया था।[6] 'जिनशासन' स्पष्टतः जैनधर्मका द्योतक है; किन्तु विद्वान् इसे बौद्ध धर्मके लिये प्रयुक्त हुआ बतलाते हैं। हमारी समझसे "बौद्धधर्म" में 'जिन' शब्दका व्यवहार अवश्य मिलता है; किन्तु जैनधर्ममें जैसी प्रधानता इस शब्दको मिली हुई है, वैसी बौद्ध धर्ममें नहीं।[7] इस शब्दकी अपेक्षा ही जब जैनधर्मका नामकरण हुआ है, तब वह शब्द इसी धर्मका द्योतक माना जा सक्ता है। 'राजतरिङ्गणी'में अन्यत्र काश्मीरके राजा मेघवाहनको

१-जमीसो० भा० १७ पृ० २७५। २-इऐ० भा० २० पृ० २४३। ३-जराएसो० भा० ९ पृ० १५५-१९१। ४-मैसूर एण्ड कुर्ग देखो। ५-हिवि० भा० २ पृ० ३५०।

६-'यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्।
शुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डले॥'-राजतरिंगणी अ० १

७-इहिक्वा० भा० ३ पृ० ४७५-४७६।

समझाते हैं और खूब ज्ञान गुदड़ी लगती है। मालूम होता है कि अशोकने अपनी धर्मयात्राओंका ढांचा जैनसंघके आदर्शपर निर्मित किया था।

(७) सर्व प्राणियोंकी रक्षा, संयम, समाचारण और मार्दव (सवभूतान अछति, संयम, समचरियं, मादवं च) धर्मका पालन करनेकी शिक्षा अशोकने मनुष्योंको परभव सुखके लिये समुचित रीत्या दी थी।[1] जैनधर्ममें इन नियमोंका विधान मिलता है। समाचरण वहां विशेष महत्व रखता है। जैन मुनियोंका आचरण 'समाचार' रूप और धर्म साम्यभाव कहा गया है।[2] सर्व प्राणियोंकी रक्षा, संयम और मार्दव जैनोंके धर्मके दश अंगोंमें मिलते हैं।[3]

(८) अशोक कहते है कि 'एकान्त-धर्मानुराग, विशेष आत्म-परीक्षा, बड़ी सुश्रूषा, बड़े भय और महान् उत्साहके विना ऐहिक और पारलौकिक दोनों उद्देश्य दुर्लभ हैं।'[4] जैनोंको इस शिक्षासे कुछ भी विरोध नहीं होसक्ता। श्रावकके लिये धर्मध्यानका अभ्यास करना उपादेय है[5] और आत्मपरीक्षा करना—प्रतिक्रमणका नियमित

१-अध० पृ० २५०-त्रयोदश शि०।

२-समदा सामाचारो सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसिंहि सम्माणं सामाचारो दु आचारो ॥१२३॥४॥ मूला०।
अथवा.-"चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ॥७॥ प्रवचनसार।

३-"खंतीमद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा।
तह होइ बह्मचेरं सच्चं चाओ य दस-धम्मा ॥७५२॥-मूला०।

४-अध० पृ० ११०-प्रथम स्तंभलेख। ५-अष्टपाहुड़ पृ० ११४ पृष्ठ २२१ व ३४४

और इन्हींके अनुसार इमती बढ़ती रूपमें संसारी जीवोंके विविध भेद ही हुये हैं।[1]

(३) जीवशब्दका व्यवहार प्रथम शिलालेखमें हुआ है। जैनधर्ममें 'जीव' मान तत्वोंमें प्रथम तत्व माना गया है।[2]

(४) श्रमण शब्द तृतीय व अन्य शिलालेखोंमें मिलता है। जैन साधु और जैन धर्म क्रमशः श्रमण और श्रमणधर्म नामसे परिचित हैं।[3]

(५) प्राण अनारम्भ शब्द तृतीय शिलालेखमें है। जैनोंमें यह शब्द पनिरोध रूपमें "पाणारम्भ" रूपमें मिलता है।[4]

(६) भूत शब्द चतुर्थ शिलालेखमें प्रयुक्त हुआ है। जैन शास्त्रोंमें जीवके साथ इस शब्दका भी व्यवहार हुआ मिलता है।[5]

१—पचवि इन्द्रियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ॥१४१॥ प्रवचनसार।

२—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र ११४—१०६।

३—मूलाचार पृ० ११८ व कल्पसूत्र पृ० ८१।

४—तस्स पाणारंभे पच्चक्खामि अहोदपणं च।
सव्वजणसार्णं मेहुण परिहरइं पेर ॥ ४१ ॥ मूला०

५—JS Pt I & II Intro. और मूला० पृ० २०४ उपासकोंके जीव, पाण, भूत और सत्त शब्दोंका जो व्यवहार किया है वह 'आचारांगसूत्र' (S. B. E. P. 36 XXII) के इस वाक्य अर्थात् पाणा-भूया-जीवा-सत्ता से बिल्कुल समान है। केवल अशोकने इनका व्यवहार एक साथ नहीं किया है, किन्तु इनमें प्राण व भूत (प्राणानां ... अविहिंसा भूतानां) का व्यवहार साथ ... किया है ... इन शब्दोंके पारस्परिक भेदको स्वीकार किया है, जैसे कि जैन करते हैं। (अशोक पृ० ११७) दि० जैनोंके ... में भी ' ... ' नामसे इनका उल्लेख है। (... पृ० ५)

नहीं लेते हैं।[1] इसी तरह जैन शास्त्रोंमें मोक्ष ही मनुष्यका अंतिम ध्येय बताया गया है; पर अशोक उसका भी उल्लेख नहीं करते हैं। किंतु उनका मोक्षके विषयमें कुछ भी न कहना जैन दृष्टिसे ठीक है; क्योंकि वह जानते थे कि इस जमानेमें कोई भी यहांसे उस परम पदको नहीं पासक्ता है और वह यहांके लोगोंके लिये धर्माराधन करनेका उपदेश देरहे हैं। वह कैसे उन बातोंका उपदेश दें अथवा उल्लेख करें जिसको यहांके मनुष्य इस कालमें पाही नहीं सके हैं। जैन शास्त्र स्पष्ट कहते हैं कि पंचमकालमें (वर्तमान समयमें) कोई भी मनुष्य—चाहे वह श्रावक हो अथवा मुनि मोक्ष लाभ नहीं कर सक्ता। वह स्वर्गोंके सुखोंको पासक्ता है।[2] फिर एक यह बात भी विचारणीय है कि अशोक केवल धर्माराधना करनेपर जोर देरहा है और यह कार्य शुभरूप तथापि पुण्य प्रदायक है। जैन शास्त्रानुसार इस शुभ कार्यका फल स्वर्ग सुख है।[3] इसी कारण अशोकने लोगोंको स्वर्ग-प्राप्ति करनेकी ओर आकृष्ट किया है। उसके बताये हुए धर्म कार्योंसे सिवाय स्वर्ग सुखके और कुछ मिल ही नहीं सक्ता था।

(९) कृत अपराधको अशोक क्षमा कर देते थे, केवल इस शर्तपर कि अपराधी स्वयं उपवास व दान करे अथवा उसके संबंधी वैसा करे।[4] हम देख चुके हैं कि जैन शास्त्रोंमें प्रायश्चित्तको विशेष महत्त्व दिया हुआ है। गर्हा, निन्दा, आलोचना और प्रतिक्रमण

१—जमीसो० भा० १७ पृ० २७१। २—अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं। लोयंतियदेवत्त तत्थ चुआणिव्वुदिं जंति ॥७७॥—अष्ट० पृ० ३३८ ३—धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसम्पयोग जुदो। पावदि णिव्वाणसुह, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥ ११ ॥—प्रवचनसार टीका भा० १ पृ० ३९। ४—स्तम्भ लेख ७ व जमेसो० भा० १७ पृ० २७०।

हमारी मान्यतामें कुछ बाधा नहीं आती; अशोकका नामोल्लेख तक जैन शास्त्रोंमें न होता तो भी कोई हर्ज ही नहीं था। क्योंकि हम जानते हैं कि पहिलेके जैन लेखकोंने इतिहासकी ओर विशेष रीतिसे ध्यान नहीं दिया था। यही कारण है कि खारवेल महामेघवाहन जैसे धर्मप्रभावक जैन सम्राट्का नाम निशान तक जैन शास्त्रोंमें नहीं मिलता। अतः अशोकपर जैनधर्मका विशेष प्रभाव जन्मसे पड़ा मानना और वह एक समय श्रावक थे, यह प्रगट करना कुछ अनुचित नहीं है। उनके शासनलेखोंके स्तम्भ आदिपर जैन चिह्न मिलते हैं। सिंह और हाथीके चिह्न जैनोंके निकट विशेष मान्य हैं।[1] अशोकके स्तंभोंपर सिंहकी मूर्ति बनी हुई मिलती है और यह उस ढंगपर है, जैसे कि अन्य जैन स्तम्भोंमें मिलती है। यह भी उनके जैनत्वका द्योतक है।

किंतु हमारी यह मान्यता आजकलके अधिकांश विद्वानोंके अशोकको बौद्ध मानना मतके विरुद्ध है। आजकल प्रायः यह ठीक नहीं है। सर्वमान्य है कि अशोक अपने राज्यके नवें वर्षसे बौद्ध उपासक हो गया था।[2] किंतु यह मत पहिलेसे

१-ये दोनों क्रमशः अन्तिम और दूसरे तीर्थङ्करोंके चिन्ह हैं और इनकी मान्यता जैनोंमें विशेष है। (वीर० भा० ३ पृ० ४६६-४६८) मि० टॉमसने भी जैन चिन्होंका महत्व स्वीकार किया है और कुहाऊंके जैन स्तंभपर सिंहकी मूर्ति और उसकी बनावट अशोकके स्तम्भों जैसी बताई है। (जराएसो० भा० ९ पृ० १६१ व १८८ फुटनोट नं० २) तक्षशिलाके जैन स्तूपोंके पाससे जो स्तंभ निकले हैं उनपर भी सिंह हैं। (तक्ष० पृ० ७३) श्रवणबेलगोलके एक शिलालेखके प्रारम्भमें हाथीका चिन्ह है। २-ईऐ० भा० २० पृ० २३०।

दर्शी राजा ऐसा कहते हैं:—मेरे राज्यमें सब जगह युक्त (छोटे कर्मचारी) रज्जुक (कमिश्नर) और प्रादेशिक (प्रांतीय अफसर) पांच२ वर्षपर इस कामके लिये अर्थात् धर्मानुशासनके लिये तथा और कामोंके लिये यह कहते हुए दौरा करें कि—" माता—पिताकी सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमणको दान देना अच्छा है। जीव हिंसा न करना अच्छा है। कम खर्च करना और कम संचय करना अच्छा है।"

अपने राज्याभिषेकके १३ वर्ष बाद अशोकने 'धर्म महामात्र' नये कर्मचारी नियुक्त किये। ये कर्मचारी समस्त राज्यमें तथा यवन, काम्बोज, गांधार इत्यादि पश्चिमी सीमापर रहनेवाली जातियोंके मध्य धर्मप्रचार करनेके लिये नियुक्त थे। यह पदवी बड़ी ऊँची थी और इस पदपर स्त्रियां भी नियत थी। धर्म महामात्रके नीचे ' धर्मयुक्त ' नामक छोटे कर्मचारी भी थे जो उनको धर्मप्रचारमें सहायता देते थे।

अशोकके १३वें शिलालेखसे पता चलता है कि उन्होंने इन देशोंमें अपने दूत अथवा उपदेशक धर्मप्रचारार्थ भेजे थे। अर्थात (१) मौर्य साम्राज्यके अन्तर्गत भिन्न भिन्न प्रदेश, (२) साम्राज्यके सीमान्त प्रदेश और सीमापर रहनेवाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आंध्र, पुलिन्द आदि जातियोंके देश; (३) साम्राज्यकी जंगली जातियोंके प्रान्त, (४) दक्षिणी भारतके स्वाधीन राज्य जैसे केरलपुत्र, (चे), सत्य पुत्र (तुलु—कोंकण), चोड़ (कोरोमण्डल), पांड्य (मदुरा व तिनावल्ली जिले), (५)

साम्राज्य छिन्नभिन्न होगया । मध्य भारत, गंगाप्रदेश, आंध्र और कलिङ्गदेश पुनः अपनी स्वाधीनता प्राप्त करनेकी चेष्टा करने लगे थे । सीमांत प्रदेशोंका यथोचित प्रबन्ध न होनेके कारण विदेशीय आक्रमणकारियोंको भी अपना अभीष्ट सिद्ध करनेका अवसर मिला था।

उपरांत कालके मौर्य वंशज ।

मौर्यवंशकी प्रधान शाखाका यद्यपि उपरोक्त प्रकार अंत हो गया था, किन्तु इस शाखाके वंशज जो अन्यत्र प्रांतोंमें शासनाधिकारी थे, वह सामन्तोंकी तरह मगध और उसके आसपासके प्रदेशोंमें ई० सातवीं शताब्दि तक विद्यमान थे। ई० ७वीं शताब्दिमें एक पुराणवर्मा नामक मौर्यवंशी राजाका उल्लेख मिलता है। किन्हीं अन्य लेखोंसे मौर्योंका राज्य ईसाकी छठी, सातवीं और आठवीं शताब्दितक कोकण और पश्चिमी भारतमें रहा प्रगट है। ई० सन् ७३८ का एक शिलालेख कोटा (राजपूताना)के कंसवा ग्राममें धवल नामक मौर्यवंशी राजाका मिला है। इससे ईसाकी आठवीं शताब्दिमें राजपूतानेमें मौर्यवंशके सामंत राजाओंका राज्य होना प्रगट है।[१] चित्तौड़का किला मौर्य राजा चित्रांग (चित्रांगद) का बनाया हुआ है।[२] चित्रांग तालाब भी इन्हींका बनाया हुआ वहां मौजूद है। कहते हैं कि मेवाड़के गुहिल वंशीय राजा बापा (कालभोज)ने मानमोरीसे चित्तौड़गढ़ लिया था। आजकल राजपूतानेमें कोई भी मौर्यवंशी नहीं है। हाँ, बम्बईके खानदेशमें जिन मौर्य राजाओंका राज्य था, उनके वंशज अबतक दक्षिणमें पाये जाते हैं और मोरे कहलाते हैं।[४]

१–भाइ० पृ० ७५। २–भाप्रारा०, भा० २ पृ० १३६। ३–कुमारपाल-प्रबन्ध, पत्र ३०–२–राइ० पृ० ३५। ४–राइ० भा० १ पृ० ५५।